UNIVERSAL LIBRARY

OU_180181

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 1831/S53da Accession No. H 280

Author शास्त्री, चतुरसेन

Title नवजीवन

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशक—
श्रीचन्द्रसेन
सिक्रेटरी, ज्ञानधाम-प्रतिष्ठान
दिल्ली (शाहदरा)

(सर्वाधिकार नितान्त सुरक्षित)

मुद्रक—
गोपाल प्रेस
बनारस।

लम्बग्रीव

(सात राजनैतिक भाव कहानियाँ)

१—लम्बग्रीव

२—जीवन्मृत

३—खूनी

४—क्रान्तिकारिणी

५—वारंट

६—लौह-पुरुष

७—मुखबिर

लम्बग्रीव

[इस कहानी में कलाकार की आहत आत्मा असह्य वेदना से चीत्कार कर रही है। उस चीत्कार से देव दैत्य तक विचलित हो गये हैं। कलाकार, जो नित्य ही भूत दया, प्राणियों के सुख और जीवन के आनन्द के स्वप्न देखता रहता है, जब महामहानरमेध का द्रष्टा बना तो फिर उसकी वेदना की सीमा क्या होगी ? शायद ही विश्व के किसी कलाकार ने भारत की विभाजन विभीषिका पर ऐसा हाहाकार किया होगा। कहानी के टेकनिक का जहाँ तक सम्बन्ध है, लेखक को जातिगत विद्वेष से अछूता रहने में अदभुत सफलता प्राप्त हुई है। कहानी में विशुद्ध मानव प्रेम, और भूतदया है। रत्ती भर भी प्रोपेगेन्डा नहीं है, व्यंग और श्लेष के चमत्कार के तो कहने ही क्या हैं। 'चन्द्रकला' कहानी का प्राण है, जो शिव का शिरोभूषण और विभाजन के पुरोहित का राष्ट्रचिन्ह है। कहानी लेखक की सर्वोत्कृष्ट कहानियों में यह अन्यतम है]

उत्तुङ्ग हिमकूट पर धूर्जटि क्रोध से फूत्कार कर उठे। उनका हिम-धवल दिव्य देह थरथरा गया। अभी-अभी उनकी समाधि भंग हुई थी और उसी समय उन्हें प्रतीत हुआ कि उनके जटाजूट से कोई चन्द्रकला को चुरा ले गया। चन्द्रकला की रजत प्रभा से हीन उनकी पाण्डुर जटा धूमिल और मलिन हो रही थी,

जान्हवी की शुभ्र रेख सूख गई थी। उनके क्रोध और चलभाव से उनके मृदु अङ्ग के सुखस्पर्श में सुप्त सर्प जाग्रत हो इधर-उधर सरकने लगे। कमर में लिपटा हुआ व्याघ्रचर्म स्खलित होकर नीचे खसक गया। जिस हिम शिला पर कैलाशी शताब्दियों से ध्यानसुप्त, स्थिर, समाधिलीन तुरीयावस्था में उपस्थित थे, वह पिघल कर बहने लगी। उन्होंने एक बार अच्छी तरह निर्णय करने के लिये जटा को झाड़ा, वहाँ चन्द्रकला नहीं थी। उसे कोई चुरा ले गया था!

उन्होंने झाँक कर मर्त्यलोक की ओर देखा—

महाराज्यों की राजधानी दिल्ली अपने भाग्य पर इतरा रही थी, तब से अब तक इस महामन्दोदरी पुंश्चली ने न जाने कितने नर-नाहरों का रक्त पान किया, न जाने कितनी बार पति-हन्ताओं से यह बरी गई, यह अक्षय यौवना आज दुलहिन बनी नई 'सजधज' में सजी खड़ी थी। रंग-बिरंगी ध्वजा, पताका, बन्दनवारों से ओतप्रोत। विविध वाद्य, जन कोलाहल आपूरित कांच की भांति चमचमाती सड़क पर असंख्य बिजली की दीपावलियों से प्रतिबिम्बित चाँदनी चौक में नर-नारी, आबाल-वृद्ध भरे थे। लाल किले के सामने दृष्टि के इस छोर से उस छोर तक नरमुण्ड ही नरमुण्ड दीख पड़ रहे थे। सब कह रहे थे—"सात सौ वर्षों के बाद! आज सात सौ वर्षों के बाद!" किसी सौभाग्य की सुखद भावना से उनके मुखमण्डल आनन्दित थे। उनके उत्सुक हृदय आन्दोलित, और भुजदण्ड विजयोल्लास से फड़क रहे थे। लाल किले के सिंहद्वार पर उनकी दृष्टि केन्द्रित थी, वहाँ एक तथाकथित ऐतिहासिक समारोह हो रहा था, जवाहरलाल नेहरू ऊँची भुजा किए किले के सिंह द्वार के ऊँचे कंगूरे पर हाथ में तिरंगा झंडा लिए

खड़े थे, यूनियन जैक गतयौवना नारी के यौवन की भांति उनके चरणों में झुका हुआ था।

कैलाशी को अब और सह्य नहीं हुआ। एक बार दूर तक उस जन कोलाहल और नरमुण्ड पूरित नगर गरिमा के ऊपर, अनन्त नक्षत्रों से भरे आकाश के नीचे अमन्द अंधकार से व्याप्त विश्व पर उन्होंने अमर्ष मिश्रित दृष्टि डाली। वहाँ और सब कुछ यथावस्थित था, परन्तु चन्द्रकला नहीं थी। अन्ततः उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि सुदूर देश प्रांत में इधर-उधर घूमकर एक अंधेरे मरुस्थल में, एक चल चंचल कृष्णकाय क्षुद्र बिन्दु पर केन्द्रित हुई। उन्होंने भृकुटी कुंचित करके देखा और फूत्कार की, त्रिशूल उठा लिया और डमरू हाथ में लेकर बजाया—

डम डम-डम-डम।
डमर-डमर डम,
डमर-डमर
डमर, डमर
डमर-डमर
डम, डमर, डमर डम
डमर-डमर।

नन्दी ने हुंकार भरी, शृङ्गी भृङ्गीगण दौड़ पड़े, उमा निद्रा से चौंक पड़ी, हिमकूट हिल उठा, कैलाश चल विचलित हो गया, देव-दानव, नाग, दैत्य, जीव, अज भय विस्फारित नेत्रों से एक दूसरे को देखने लगे। स्वर्ग लोक में डमरू ध्वनि पहुँची? मर्त्य-लोक में डमरू ध्वनि पहुँची, पाताल लोक में डमरू ध्वनि पहुँची। अरे! हुआ क्या? कैलाशी आज कहीं असमय में ही रौद्र भाव तो नहीं विस्तार कर रहे हैं?

शृङ्गी, भृङ्गी ने भूमि पर गिर कर प्रणतिपात किया, उमा रत्नपीठ त्याग अस्त-व्यस्त पाँव-प्यादे ही उठ धाईं, नन्दी बारम्बार कुकुन्द हिलाने और हुँकार भरने लगे। परन्तु डमरू बजता ही गया—

डम-डम-डम-डम
डमर-डमर-डम
डमर-डमर
डम-डमर-डमर-डम
डमर-डमर—

वेग से, अति वेग से, अत्यन्त वेग से। उसमें से अग्नि-स्फुलिंग निकलने लगे, वायुदेव काँपने लगे। भूलोक में आँधी, उल्कापात, जल-प्रलय, भूकम्प होने लगे। जड़, जङ्गम त्राहिमाम्, त्राहिमाम् चिल्लाने लगे !!

उमा ने भय, भक्ति, स्नेह पूरित मन्दस्मित वाणी से कहा—'देव ! यह क्या ! आपके रक्षित लोक, परलोक, नक्षत्र-मण्डल सब ध्वंस हो जाएँगे, प्रभो ! डमरू नाद बन्द कीजिए ! सब ध्वंस हो जाएँगे !'

'सो हो जाएँ।' शिव ने त्रिशूल ऊँचा करके भीषण वेग से डमरू-नाद करते हुए कहा।

'जय देव ! जय-जय देव ! जय देवाधिदेव ! जय देव-देव !···' शृङ्गी, भृङ्गी, नन्दी, शिलिमुख, सूचीमुख, भुचुण्डी, शूर्पकर्ण, असिपत्र, वैताल, हिन्ताल, गोशृङ्ग, वज्रपद्म, लोहिताक्ष आदि शत-सहस्र रुद्र-गण आ जुटे। किसी की कमर में ताजा चूती हुई हाथी की खाल बंधी हुई। कोई व्याघ्रचर्म स्कन्ध पर लपेटे था। कोई नङ्ग धड़ङ्ग, कोई कबन्ध, कोई प्रलम्ब, कोई निरवलम्ब,

कोई विकट दन्त, कोई कृतान्त। कोई वीणा, मृदङ्ग मुरज लिए; कोई शूल-शक्ति वर्म-शरपुंख लिए दिग्दिगन्त से आ जुटे। सबने झांक कर देखा—

घण्टाघर के कलङ्कित कलेवर पर विद्युत दीपावलियाँ रंग-बिरंगी आभा बिखेर रही थीं। चाँदनी चौक जगमगा रहा था और दिल्ली के छैल-छबीले स्त्रैण नर 'हा हा हू हू' करते, कचालू के पत्ते चटाते, पान कचरते, भीड़ में भरी यौवन मदमाती, सैरसपाटे की शौकीन लेडियां और मिसों को, जानते, अनजानते दबोचते, घूरते, धर्मधक्के देते, ठठोली और चुहल करते इधर से उधर गर्व भरी चाल से आ जा रहे थे। मानो इन्होंने अपने रक्त-जीवन और शौर्य के मूल्य पर यह तथाकथित स्वातन्त्र्य लाभ किया है।

सब ने देखा, सब ने सोचा, यही क्या कैलाशी के क्षोभ का विषय है?

परन्तु कैलाशी की दृष्टि सुदूर सूने मरुस्थल में अलक्ष, कृष्ण, चल-चञ्चल पिण्ड पर केन्द्रित थी। सभी का ध्यान दिल्ली के रंगीन दृश्य से हट कर वहीं पहुंच गया। बहुत ध्यान करने से अब सबने देखा—उस शून्य काली रात से आपूर्यमाण रेगिस्तान में एक लम्बग्रीव, अशुभ दर्शन, विगलित यौवन किन्तु भद्र-वसन नर-जन्तु ऊँट पर बैठा, हिचकोले खाता, अपनी कमजोर आँखों से, चश्मे की सहायता से, चेष्टा करके देखता मार्गहीन मार्ग पर दौड़ा जा रहा है और कैलाशी की वक्र दृष्टि उसी भाग्य-हीन पर केन्द्रित है। उनकी भृकुटी में बलि रेखा स्पष्ट होती जा रही है, और नासिका रन्ध्र फूल रहे हैं। श्वास वेग से आ रहा

है, त्रिशूल का हाथ ऊँचा उठता ही जा रहा है, डमरू का वज्रनाद तीव्रतम होता जा रहा है।

उमा ने शंकित, भीत होकर कहा—'अरे! कहीं त्रिशूली तृतीय नेत्र तो नहीं खोल रहे हैं? प्रलय हो जायगा, असमय ही में विश्व भस्म हो जायगा, असमय ही में—'

गण, गणपति सब विचलित हुए। वे निरुपाय उमा का मुँह ताकने लगे। उन्होंने कातर कण्ठ से कहा—'मातः! कैलाशी के अमर्ष का निवारण करो, उन्हें शिव रूप में अवस्थित करो!'

उमा ने शुभ्र स्निग्ध हाथ कैलाशी के कंधे पर रख कर कहा—'कौन है वह अधम मानुष, देव?'

'लम्बग्रीव,'

'क्या किया है उस पातकी ने? एक नगण्य, जरा मृत्युपाश ग्रसित मानुष पर देवाधिदेव का ऐसा रोष क्यों?'

'देखो, देखो उसकी स्पर्द्धा?' उन्होंने उँगली से संकेत कर उधर कुछ दिखाया।

उमा ने भयभीत होकर देखा—चन्द्रकला उसकी टोपी में संलग्न थी। फिर उन्होंने सदाशिव की धूमिल जटाओं को देखा जो चन्द्रकला के अभाव से धूमिल और श्रीहीन हो रही थीं।

उमा भय और क्षोभ से जड़ हो, उस अंधेरे रेगिस्तान के मार्गहीन मार्ग में दौड़ते हुए ऊँट की, और उसके लम्बग्रीव आरोही की ओर देखने लगीं।

कैलाशी की भृकुटी कुंचित होती जा रही थी, ओष्ठ फड़क रहे थे, कैलाशी कहीं तृतीय नेत्र न खोल दें—इसी से भयभीत हो उमा ने कहा—'क्या उसने चन्द्रकला को चुरा लिया है?'

'देखो तो तस्कर को ?' कैलाशी ने फिर हिमधवल उँगली उठाई।

२

किन्तु मर्त्यलोक में किसी को भी इस देवकोप का पता न था। लाहौर की अनारकली पैरिस के सौंदर्य और मोहक विलास से स्पर्धा-सी करती हुई दीख रही थी। सड़कें फैशनेबुल ग्राहक, ग्राहिकाओं से पटी पड़ी थीं और दुकानें विदेशी फैशन की सामग्रियों से ! जीवन की कठिनाइयों की यहाँ परवाह न थी। गेहूँ, उर्द और चना खा-खा कर, पञ्चनद की ऊर्वरा भूमि में उत्पन्न दूध, घी और रस की मुँह छुट खुराक खा-खा कर कद्दावर और स्वस्थ्य माता पिताओं ने जो युवक युवतियों की, आज के युग की, चपल जोड़ियाँ उत्पन्न की थीं, वह पच्छिमी हवा के झोंको में झूम-झूम कर अपने विलास और यौवन का उन्मुक्त प्रदर्शन करती घूम रही थीं। धरती और आसमान पर वे अपने यौवन और विलास को छोड़ कर दूसरी किसी वस्तु को देख ही न पा रहीं थीं। चरित्र और जीवन के साथ संश्लिष्ट कुछ गम्भीर दायित्व और भारी त्यागमय भावनाएँ भी हैं, इनसे वे बिल्कुल बे खबर थीं। और उनके पिता पितृव्य मोटे और बेडौल पेट पर—जो बहुधा बेतुले गेहूँ और चना खाने और यथावत् परिश्रम न करने से हो जाता है—कीमती विलायती सिल्क का अंग्रेजी कट सूट का खोल चढ़ाए, सिर पर बत्तीस गज़ का एक थान लापरवाही से लपेटे, चोरी, चोर-बाजारी, हरामखोरी और आपापंथी से गट्ठर के गट्ठर अंग्रेजों के दिये काग़जी रुपयों को जेबों में भरे फिरते थे, जिनका

स्वच्छन्द उपभोग करने में इन युवक युवतियों को कोई रोक टोक नहीं थी।

इन्हीं के साथ, अफ्रीका का जङ्गल चेहरों और सिर पर उगाए, वीरका बाना धारण किए बहुत लोग कोमल अन्तस्तल का रत्ती राई बहिष्कार कर कड़ाह प्रसाद और झटके का वेग्व-टके आस्वाद ले रहे थे।

३

हठात् कैलाशी ने तृतीय नेत्र खोल दिया। सहस्र उल्कापात का वज्रनाद विश्व पर व्याप्त हो गया। अग्निस्फुलिंग की एक ज्योतिष्मती धारा हिमकूट से सीधी अनारकली पर आ पड़ी।

और, देखते ही देखते अनारकली भस्म होने लगी। लाहौर में भगदड़ मच गई। शताब्दियों से सुप्त और चिरदासता में मग्न विलास लिप्सा और उसके साधन धांय-धांय जलने लगे।

नन्दी, शृङ्गी, भृङ्गी, भुचुण्डी, शिलिमुख, सूचीमुख, विकरा-लाक्ष, लम्बकर्ण, असितवक्त्र, आदि रौद्रगण दौड़ पड़े। गली-गली, कूचों-कूचों में उन्होंने मोटे, थौंदल, निकम्मे, लोलुप. कायर जनों को मार गिराना प्रारम्भ कर दिया, रौद्र नेत्र से विस्फारित अग्निशिखा लाहौर को घेर कर चारों ओर से भस्म करती ही रही। उसी अग्नि समुद्र में घिर-घिर कर भागते-दौड़ते, हाय-हाय करते भद्र-अभद्र सब पटापट मरने लगे। विलास की लिप्सा ने वासना को घसीट कर साथ ले लिया और छांट-छांट कर विलास पुत्तलिकाओं का अपहरण किया। देव, दैत्य, दानव भी पिल पड़े। भोग और भोग के साधन, वे बटोरने लगे। इस धकापेल में शत सहस्र पवित्र कुमारिकाएँ, निर्दोष पंचनद

की पुत्रियाँ लांच्छित हुईं, नग्न की गईं, और दूषित हुईं। बहुतों ने जान दे दी, बहुतों ने आत्मार्पण किया। बहुत जूझ मरीं, बहुतों का क्रूरघात हुआ, बहुत बद्ध हुईं, बहुतों ने अखाद्य भक्षण किया। सम्पूर्ण पञ्चनद पर रुद्र का तृतीय नेत्र घूम गया। दाहक ज्वाला की परिधि बना कर हरीभरी पञ्चनदभूमि, नगर, गाँव, बस्ती, जनपद, जन, सब भस्म होने लगे। मृत्यु और मृत्यु से भी कठिन यातनाओं, यन्त्रणाओं के अवर्णनीय नारकीय अभिनय हुए!

४

महानिष्क्रमण आरम्भ हुआ। लक्ष-लक्ष नर-समूह, घर-द्वार, खेत-सम्पत्ति छोड़ बे-घर बने, पत्नी पुत्रों से हाथ धोए, राह के भिखारी बने, बहिष्कृत हुए। शताब्दियों से परिचित घर द्वार, खेत खलिहान वहीं रहे, भग्न प्राण और जर्जर शरीर को ले, गठरी मुठरी सिर पर लाद, कोई पाँव प्यादे, कोई घोड़ा, गदहा, ऊँट, खच्चर, बैलगाड़ी पर, कोई अपने सशक्त साथी की पीठ पर, चले अज्ञात यात्रा को, असहाय भिखारियों, खानाबदोशों की भांति। महिलाओं के पैरों में घाव हो गए, सुकुमारियाँ मूर्छित हो गईं, बालक सिसक-सिसक कर मरने लगे, वृद्ध जन आँसुओं से अपनी धौली डाढ़ी धोते चले—काँखते, लंगड़ाते, गिरते-पड़ते, भूखे-प्यासे। एक दो नहीं—लक्ष-लक्ष, सहस्र-सहस्र, शत-शत।

उल्कापात ने उन्हें छिन्न-भिन्न किया। आघात ने उन्हें आहत किया, रोग ने उन्हें अल्पमृत्यु दी, भूख ने उन्हें आबरू बेचने पर लाचार किया। न बूढ़े की लाज रही, न कुल वधू की मर्यादा। न बड़े का बड़प्पन रहा, न छोटे का शील। प्राणों को देते लेते,

जीवन और मृत्यु का सामना करते, रात को तारों से भरी खुली रात में बीच राह सोते, दिन की जलती धूप में झुलसती आँखों, से ज़ार-ज़ार आँसू बहाते, थके हुए, गिरे हुए, घायल हुए परिजनों को घसीटते और कंधों पर ढोते हुए चलते चले गए। मरतों पर आशीर्वाद के अश्रुबिन्दु न्यौछावर करते, और जीतों पर निराशा की गहरी सांस खींचते। प्राण पुत्तलिकाओं का उन्होंने अपने हाथों वध किया—घर में बन्द करके आग में फूँक दिया, और चल पड़े अपनी समझ से निर्द्वन्द होकर। सब कुछ खोकर—केवल प्राणों का भार लेकर।

५

उमा ने आँखों में आँसू भर कहा—"बहुत हुआ देव, बहुत हुआ। अधम, क्षुद्र, मर्त्य प्राणियों पर दया करो, नर-संहार रोको! निष्पाप कुमारियाँ लाज खो रही हैं; स्नेहवती माताओं की गोद सूनी हो रही है। नर-रक्त की नदी पञ्चनद की हरी-भरी-भूमि को लाल बना रही है।"

परन्तु त्रिशूली ने वाम हस्त ऊँचा करके डमरू वाद्य किया!

डम-डम-डम-डम
डमर-डमर-डम
डमर-डमर
डमर-डमर
डम-डमर-डमर-डम
डमर-डमर

और फिर हुंकृति करके एकबारगी ही विष वमन किया।

उमा मूर्छित होकर रत्न-सिंहासन से नीचे गिर गईं। रौद्र-गण विक्षिप्त हो दिल्ली पर दौड़ पड़े।

अरर-धम
अरर-धम
धम-धम।

अग्निस्फुलिंग, लोहवर्षण, मृत्यु, लूट, अमर्ष, पाप और ताप का सम्पूर्ण विस्फोट हो गया। लाशें गली कूचों में सड़ने लगीं। चाँदनीचौक श्मशान हो गया। दुर्गन्ध, अराजकता, अंधेर और पाप के सब रूप प्रकट हुए। सड़कर फूली हुई लाशों पर मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं। कुत्ते, सियार, गृद्ध, लाल किले के चारों ओर घूमने लगे। यमराज भैंसे पर सवार होकर मृत्यु के आखेट का लेखा-जोखा रखने आ पहुँचे। महामाया ने काल-चक्र वेग से घुमाया, देव दानव सब आकुल भीत और आतङ्कित हो गए।

६

देवराज सब देवों के परामर्श से सतीश्वरी महामाया के मणिमहल की ड्योढ़ियों पर पहुँचे। और मस्तक झुकाकर बोले—"देवि, देवाधिदेव धूर्जटि एक अधम तस्कर के दोष से मर्त्यलोक के लक्ष-लक्ष, मानवों का विध्वंस कर रहे हैं! अब आपही सहायता कीजिए देवि, आपही की यह सृष्टि है; आपही यदि इसे विध्वंस करेंगी तो कैसे होगा. कृपा कर कालचक्र को रोकिए, देवि महामाया।"

महामाया ने हँस कर कहा—"एक व्यक्ति के दोष से नहीं; देवराज, सभी का दोष है। उन्होंने अपना जीवन अपने ही में केन्द्रित कर लिया है, वे आत्म पुजारी, रूढ़ि के दास और वासना के पुजारी हो गए हैं। कर्तव्य पथ को उन्होंने त्याग दिया है।

वे मानव कुल कलंक हैं, मरें वे सब, देवाधिदेव की आज्ञा से मैं नवीन सृष्टि रचना करूँगी।"

इन्द्र ने नतजानु होकर कहा—'प्रसन्नमयी, ऐसा नहीं है। लोक गतानुगतिक है, जन-जीवन के रथ चक्र को घुमाकर कर्तव्य के पथ पर लाने का भगीरथ प्रयत्न कुछ जन कर रहे हैं। आप काल-चक्र को रोकिए, देवि!'

महामाया ने झांक कर चाँदनी चौक की ओर देखा—गन्दी और अवांच्छनीय भीड़ भरी थी। भद्र-अभद्र सब जन भीड़ में आ जा रहे थे। सड़कों पर खोंचे वालों, कचालू वालों और अंडे वालों का जमघट था। खुले मैदान में मुर्गी अंडे पक रहे थे। लोग अंट-शट खा रहे थे। बहुत लोग शराब पी-पी कर अश्लील गीत गा रहे थे। बहुत से स्त्रियों को देख-देख ठिठोली कर रहे थे। बहुत से झूठे सौदे कर रहे थे। बहुत से जेब काट रहे थे—कबाब पक रहे थे, मांस के जलने की चिरांध फैल रही थी, बहुत लोग खड़े-खड़े गन्दे खाद्य खा रहे थे, सड़कों पर गन्दगी और कूड़ा-कर्कट का अम्बार लगा था। गाड़ियों में भीड़, धमक्क-धक्का, गाली-गलौज, झूठ, बेईमानी, दगाबाजी, अव्यवस्था, अशौच।

महामाया ने नाक भौं सिकोड़ कर कहा—"मैं महामारी को भेजूँगी, दिल्ली के ये भेड़िये और सूअर पटापट मरेंगे। ये क्या सभ्यता, व्यवस्था, स्थैर्य, शिष्टाचार और संयम-सीखेंगे ही नहीं? इतना खो कर भी, इतना भोग कर भी!"

क्रोध से महामाया का मुँह विवर्ण हो गया।

देवराज ने हाथ जोड़कर कहा—"नहीं,नहीं देवि, अभी आप

निर्णय न करें, देखिए—इधर क्या हो रहा है ?"—देवराज ने एक ओर ऊँगली उठाई। महामाया ने देखा—

एक हिम धवल शैया पर एक क्षीणकाय कृष्णवर्ण वृद्ध चुपचाप लेटा था, और शैया को घेरे कुछ भद्र जन आँखों में आँसू और अनुनय भरे उसकी ओर ताक रहे थे। एक लम्बे कद के श्वेत केशी छरहरे तरुण ने कहा—

'बापू हम सब कुछ करेंगे, आप अपने जीवन की रक्षा कीजिए।'

बापू ने कहा—'भद्र, मेरा जीवन तो मेरे लिये है ही नहीं, जिनके लिये है, वे ही इसे नष्ट भी कर सकते हैं। परन्तु मैं मानुष द्वेष सह नहीं सकता। सब भाई हैं, एक भाई दोष करे तो दूसरा क्षमा कर दे, तभी उसके दोष का निवारण हो सकता है।'

'ऐसा हम कर रहे हैं बापू!' एक बूढ़े मुसलमान ने आगे आकर कहा।

बापू ने मुस्कुरा कर उसका हाथ प्रेम से पकड़ लिया। फिर कहा—'कीजिए मौलाना, कीजिए, और जब आप सफल होंगे तो मैं उपवास त्याग दूँगा। मैं चाहता हूँ विश्वशाँति, अटूट प्रेम, दृढ़ विश्वास और हार्दिक सहयोग। इसीके लिये मैंने जीवन धारण किया और इसीके लिये मैं जीवन की बलि दूँगा।'

महामाया ने मृदुहास्य से कहा—'यह कौन देवभक्त है, देवराज ?'

'गांधी है, प्रसन्नमयी! ये मानवता की रक्षा करने के लिए अपने प्राण की आहुति दे रहे हैं, और ये इनके साथी जवाहर, प्रसाद, आज़ाद, सरदार, राजाजी और परिजन।'

'साधु, देवराज साधु, तो तुम गांधी को लेकर देवाधिदेव

की सेवा में जाओ। आज अपरान्ह में मैं उनकी आत्मा को दिव्य प्रकाश दूँगी।'

देवराज ने महामाया को प्रणाम किया और मर्त्यलोक को प्रस्थान किया।

७

उसी दिन, अपरान्ह में नई दिल्ली में बिरला भवन के मुक्त उद्यान में जब शत सहस्र जन आबालवृद्ध श्रद्धा आँचल में भरे, विनयावत-तपोदग्ध-द्वितीया की क्षीण चन्द्रकला की भाँति उस जीवित सत्व का अभिनन्दन कर रहे थे—जो उनके बीच हास्य की ज्योत्सना बखेरता हुआ हिमधवल पीठ की ओर देव बन्दना के लिये जा रहा था—तीन बार ज्योति किरण फटी और तीन ही बार महानाद हुआ। उस महानाद में एक स्वरघोष भाग्य-शालियों ने सुना। 'हे राम!'

महामाया ने माया विस्तार की और नश्वर अविनश्वर का हठात् विच्छेद हो गया, कोटि-कोटि मर्त्य प्राणी विमूढ़ हो आकुल हो उठे। मर्त्य लोक नयन नीर से प्रच्छालित हुआ। महामाया के प्रसाद से गांधी हिमकूट पर कैलास के हीरक द्वार पर देव-राज इन्द्र के साथ जा पहुँचे। हीरक द्वार खुल गया, कुमार कार्तिक आनन्द से नृत्य करके नाचने लगे। कैलाश उज्ज्वल आभा से आलोकित दिव्यज्योति से अपूरित हो गया।

कैलाशी ने शुभदृष्टि डाली, कहा—'कौन है यह हिम धवल शुभ्र केशी?'

'गांधी है देव।'

देवाधिदेव मुस्कुरा उठे, आपही आप उनका तृतीय नेत्र

निमीलित हो गया, उच्च हिमकूट पर वासन्ती वायु बहने लगी, विविध वर्ण पुष्प खिल गए, मकरन्द लोभी भ्रमर गूँजने लगे, कोयल कूकने लगी, मलय मारुत का सुखस्पर्श पा कैलाशी आनन्द विभोर हो गए। बादलों को छिन्न-भिन्न करती हुई उमा रत्नशृङ्गार किए आ उपस्थित हुईं।

कैलाशी ने धीरे से त्रिशूल नीचे रख दिया। डमरू अपने स्थान पर अवस्थित हुआ। शुद्ध शिव रूप होकर धूर्जटि ने कहा—

'हे कालपुरुष, तू जयी हो। आ मेरे शीर्षस्थान पर आसीन रह, और वहीं से अनन्त विश्व पर जब तक भूलोक में काल का आयु दण्ड है, तू हो चन्द्रकला के स्थान पर शीतल स्निग्ध-शुभ्र-शिव ज्योत्स्ना की मर्त्य प्राणियों पर वर्षा करता रह! मर्त्य प्राणियों पर वर्षा करता रह!'

—०:❀:०—

जीवन्मृत

[यह कहानी अब से कोई पच्चीस वर्ष पूर्व लिखी गई थी। कहानी बहुत बज़नी है, इसमें एक अत्यन्त खतरनाक भेद छिपा हुआ है जिसे उस समय तीन व्यक्ति जानते थे और अब केवल एक व्यक्ति ही उसका जानने वाला जीवित है। इस भेद का सम्बन्ध भारत के एक बहुत भारी असफल विप्लव से है। कहानी में कुछ उलझनें थीं, कुछ ऐसी बातें थीं जो लिखी नहीं जा सकती थीं और छोड़ी भी नहीं जा सकतीं थीं; इन उलझनों के कारण ही प्रतिदिन पचास पृष्ठ लिखने की सामर्थ्य रखने वाले लेखक को यह कहानी पूर्ण करने में नौ मास लगे थे। फिर भी कहानी चाँद में छपते ही चाँद की २ हजार की ज़मानत जब्त हो गई थी। कहानी को पढ़कर तत्कालीन लाहौर हाईकोर्ट के प्रसिद्ध कौंसिल (बाद में जस्टिस और फिर कस्टोडियन जनरल) श्री अछरू-राम ने आश्चर्यचकित होकर ४ पृष्ठों के पत्र में लेखक को लिखा था कि क्या वास्तव में कल्पना सत्य को ऐसी हूबहू तस्वीर खींच सकती है ? कहानी नायक के श्री अछुरराम बाल सहचर रहे हैं। उस व्यक्ति के चरित्र के वे प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं।

कहानी में कुछ टेक्नीकल विचित्रताएँ भी हैं। पात्रों के नाम ग़ायब हैं, कथानक नहीं हैं केवल उसका आदि अन्त है। कहानी की गति अतिशय गम्भीर है। वर्ण्य प्रच्छिन्न हैं, वह साधारण पाठक की समझ से

परे है। मानवीय ऐषणाओं और मनोविकारों को मूर्त्त करने में कलाकार ने परिश्रम की पराकाष्ठा कर दी हैं, कहानी उच्चतम मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है]

पन्द्रह वर्ष का लम्बा काल एक भयानक दुःस्वप्न की तरह व्यतीत हो गया। एक-एक क्षण, एक-एक श्वास, जीवन की एक-एक घड़ी, हज़ारों बिच्छुओं की दंश-वेदना में तड़प-तड़प कर व्यतीत हुई है। वह कल्पना और मानवीय विचार-धारा से परे का दुःख न कहना, स्मरण न करना ही अच्छा है। मानों मैंने एक महान् पवित्र व्रत लिया था, जो एक प्रकृत योद्धा को सजने योग्य था, जिसके लिए चरम कोटि के त्याग, साहस, सहिष्णुता, वीरता और प्रतिभा एवं ओज की आवश्यकता थी। अपनी शक्ति और व्यक्तित्व पर बिना ही विचार किए मैं रणपोत पर सैनिक गर्व से उद्ग्रीव होकर चढ़ गया। सहस्रावधि नर-नारियों ने हर्ष और आशा में भर कर उल्लास प्रकट किया, साधुवाद दिए, पर मानों प्रशान्त महासागर में एक साधारण चक्कर खाकर ही वह दृढ़ पोत जल-मग्न हो गया और देखते ही देखते उसका अस्तित्व विलीन हो गया। रह गया अकेला मैं, साधन, शक्ति और अवलम्ब से रहित, एकमात्र तख्ते के एक टुकड़े के सहारे तैरता हुआ। अन्ध निशा में, एक सुदूर तारे के क्षीण प्रकाश में, उस दुर्धर्ष महाजल-राशि पर, जीवन के मोह के कच्चे धागे के आसरे भटकता रहा। १५ वर्ष तक अनन्त हिंस्र जीव-जन्तुओं का आक्रमण, हड्डियों में कम्प उत्पन्न करने वाला शीत, नस-नस से प्राणों को खींच लेने वाली पर्वत-समान जलराशि की उत्तुङ्ग तरी के थपेड़े, उस अस-

हाय अवस्था में सहन करता रहा। १४ वर्ष तक! और कितना भयानक, कितना रोमाञ्चकारी, कितना अद्भुत, यह जीवन का मोह रहा! ये प्राण कितने बहुमूल्य प्रमाणित हुए। क्या पृथ्वी पर और कोई मनुष्य भी इस तरह जिया होगा?

२

प्रकृति की एकान्त स्थली पर मैंने अपना शैशव और यौवन का प्रारम्भ व्यतीत किया। वहाँ एक ही रङ्ग था—त्याग, शान्ति, तप और निर्वासना। जब तक शैशव पर विधान का शासन रहा, मेरे बाहरी पीत-वसन और अन्तस्तल का भी एक रङ्ग रहा, पर यौवन के विकास ने बाहर-भीतर में भेद डाल दिया। हाँ, संसर्ग तो कुछ न था—जो था साधारण—परन्तु नैसर्गिक वासनाओं ने प्रस्फुटित होते होते उस त्याग, तप और निर्वासना—सबसे विद्रोह करना शुरू कर दिया। मैं ब्रह्मचारी था। उस तपस्थली पर मेरे जैसे बहुत थे, पर हमारे गुरू और उपजीवी ब्रह्मचारी न थे। हम नैसर्गिक रह ही न सके, हमारी सादगी में भी एक शान थी, हमारे ब्रह्मचर्य में भी एक फैशन था, हमारे त्याग-तप में भी प्रदर्शन था। जगत के सर्व-साधारण कैसे जीवन के पथ पर बढ़ते हैं, मैं नहीं जानता: पर हम सभी में हास्य, उल्लास, गोपनीय वासनाएँ तथा तमोमयी भावनाएँ थीं। उस आश्रम में मैं ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हूँ। मुझे सर्वश्रेष्ठ होना ही चाहिए—यह मैं शीघ्र ही समझ गया। कैसे? यह नहीं बताऊँगा। आचार्य का पुत्र था। राजपुत्र तो जन्म ही से सर्वश्रेष्ठ होते हैं। इसमें अनुचित क्या? मैं सर्व-प्रथम, सर्वश्रेष्ठ पुरुष होकर उस दुर्धर्ष आश्रम से बाहर आया। संसार कैसा

सुन्दर था ! मैं देखते ही मोहित हो गया। वह मेरे ऊपर श्रद्धा, आशा और प्रेम बिखेर रहा था। मैंने जाना भी न था कि मैं जीवन में इतना आदर पाऊँगा। वह आशातीत आदर पाकर मैं गर्व से नाच उठा। मैंने अच्छी तरह अपनी मानसिक दुर्बलताएँ अपने पीले उत्तरीय में लपेट कर छिपा लीं, और मैं असाधारण पुरुष की तरह खुले संसार में पैर के धमाके से हल-चल मचाता हुआ आगे बढ़ चला।

स्त्री को सदैव दूर से देखा और अनुमान से समझा था। आश्रम में स्त्री-मात्र दुष्प्राप्य थी। फिर मैं तो मातृहीन बालक ठहरा। परन्तु सदैव ही मैंने स्त्री-जाति के सम्बन्ध में विचारा। फिर भी वह क्या वस्तु है, कुछ समझा नहीं।

पर, विशाल जगत में आते ही स्त्री भी मिली। अद्भुत वस्तु थी। इसे देख, फिर और किसी को देखने की इच्छा ही न होती थी। मैं जगत को भूल गया। स्त्री-शरीर, स्त्री-हृदय स्त्री-भावना, यह मेरा खाने और बखरने का अब विषय रहा, परन्तु जीवन का एक नूतन अनिर्वचनीय आनन्द तो अभी मिलना शेष ही था। वह मुझे शिशु कुमार के अवतरण होते ही मिला। आह ! जगत के पर्दों के भीतर क्या-क्या छिपा है, और उसे भाग्यवान किस तरह अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं, यह मैं क्या कभी विचार भी सकता था ?

वाह रे मेरा सुखी जीवन और मेरा नवीन संसार ! मैं सोता था हँस कर, जागता भी था हस कर ! शिशु कुमार और उसकी माता, ये दोनों ही मेरे हास्य के साधन थे। शीतकाल के प्रभात की सुनहरी की धूप तरह वह मेरा हास्य मुझे कैसा

सजता था! आज १५ वर्ष से मैं उस अतीत हास्य की कल्पना करके भी एक सुख पाता हूँ।

देश मेरा प्राण और देश-सेवा मेरा व्रत था। यह बात कुछ मेरे मन के भीतर नहीं उपजी, प्रत्युत मुझे बचपन से सिखाई गई थी। उस आश्रम की उन अति गरिष्ठ पुस्तकों के अलावा—जिनसे सदैव भयभीत रहने पर भी मेरा पिण्ड नहीं छूट सका था—यही एक प्रधान विषय था, जिसे आश्रम के गुरु से शिष्य तक भिन्न-भिन्न शब्दों और शैलियों में सोचते-विचारते थे।

देश ही मातृभूमि है, वह मातृभूमि माता—जन्मदात्री माता—से भी अधिक पूजनीय है। वही मातृभूमि विदेशी अत्याचारियों द्वारा दलित है। उसका उद्धार करना हमारे जीवन का एक व्रत है। बस, यही हमारे देश-प्रेम की रूप-रेखा थी। मातृभूमि का उद्धार कैसे किया जाय, यह मैंने न कभी सोचा, न समझा, न किसी ने मुझे बताया ही। मैं मातृभूमि का उद्धार करूँगा, यह मैं चिल्ला कर कहता। पर किस तरह, यह नहीं जानता था। और इसीलिए मैं अब तक समय-समय पर चिल्ल-पुकार करने के सिवा और कुछ कार्य इस विषय में कर भी नहीं सका। मैंने समझा यही यथेष्ट है। इसे करने में धन भी मिला और यश भी। रोज़गार-धन्धे को ढूँढ़ने की दिक़्क़त भी न उठानी पड़ी, यही चिल्लपुकार करना मेरा व्यवसाय हो गया। मैं अब जिह्वा और खेलनी दोनों से यही चिल्लाया करता। निदान, देश पर मरने वालों की फ़ेहरिस्त में मेरा नाम दूर ही से चमकने लगा। मेरी स्त्री हँसती थी। वह मुझे जीवित रखना चाहती थी, मारना नहीं। मैं कह दिया करता—"यह तो कहने की बातें हैं। मरने का ऐसा यहाँ कौन सा प्रसङ्ग है?" बस यही उसके

हास्य का विषय था। शिशुकुमार की बात कैसे भूली जाय? हँसने में चार चाँद तो वही लगता था।

पर मैंने जो कुछ समझा वह मेरी जड़ता थी। देश का अस्तित्व एक कठोर और वास्तविक अस्तित्व था। उसकी परिस्थितिऐसी थी कि करोड़ों नर-नारी मनुष्यत्व से गिर कर पशु की तरह जी रहे थे। संसार की महाजातियाँ जहाँ परस्पर स्पर्द्धा करती हुई जीवन-पथ पर बढ़ रही थीं, वहाँ मेरा देश और मेरे देश के करोड़ों नर-नारी केवल यह समस्या हल करने में असमर्थ थे कि कैसे अपने खण्डित, तिरस्कृत, अवशिष्ट, जीवन को खतम किया जाय? देश-भक्त मित्र मेरे पास धीरे-धीरे जुटने लगे। उन्होंने देश की सुलगती हुई आग का मुझे दिग्दर्शन कराया। मैंने भूख और अपमान की आग में जलते और छटपटाते देश के स्त्री-बच्चों को देखा। वहाँ करोड़ों विधवाएँ, करोड़ों मँगते, करोड़ों भूखे-नङ्गे, करोड़ों कुपढ़ मूर्ख और करोड़ों ही अकाल में काल-ग्रास बनते हुए अबोध शिशु थे। मेरा कलेजा थर्रा गया। मैं सोचने लगा, जो बात केवल में कहानी-कल्पना समझता था, वह सच्ची है, और यदि मुझमें सच्ची मैरत थी, तो मुझे सचमुच मरना ही चाहिए था। मैं भयभीत हो गया। मैं कह चुका था कि मैं मरने से पीछे हटने वाला नहीं हूँ। अब क्या करता? मैं बिलकुल पशु तो नहीं, बेगैरत भी नहीं, परन्तु मैं मरने को तैयार नहीं था। फिर भी मैं ज़बान लौटा न सका, मेरी वाग्धारा और लेखनी वैसी ही चलती रही। वास्तविकता का ज्यों-ज्यों दिग्दर्शन मुझे हुआ, वह उतनी ही अधिक मर्म-स्पर्शिनी हो गई। बोलना और लिखना मैंने सीखा था, फिर वह मेरा स्वाभाविक गुण था। शीघ्र ही मेरी सोलहों

कलाएँ पूर्ण हो गईं। मैं देश में सितारे की भाँति चमकने लगा। मेरा सम्मान चरमकोटि पर पहुँचा, पर मेरा हास्य मेरा सुख सदा के लिए गया। मैं सदा ही शङ्कित, थकित और चिन्तित रहता, मानों मृत्यु परछाईं की तरह सदा मेरे पीछे रहती थी। मैं उससे बहुत ही डरता था। अब मृत्यु ही मेरे हृदय और मस्तिष्क के विचारने का विषय रह गई, परन्तु क्या कहूँ? इस दुःख में भी एक वस्तु थी, जो प्राणों से चिपट रही थी—वही स्त्री और शिशुकुमार।

राजा साहब को मैंने कभी नहीं समझा, पर उनसे कभी डरा भी नहीं। उनके नेत्र अद्भुत थे, और देखने का ढङ्ग और भी अद्भुत—छोटा सा मुख, बड़ी-बड़ी मूँछें, उस पर भारी सा हम्मामा, और काले चश्मे से ढकी हुई वे अद्भुत रहस्यमयी आँखें। सभी कहते थे, राजा साहब से हम डरते हैं, पर मैं कभी न डरा। वे आते ही सदैव पहले मुझे प्यार करते, तब पिता जी से बात करते थे। वे पिता जी के अनन्य भक्त थे, पिता जी के दीक्षा लेने के पूर्व से ही। उनके संन्यस्त होने के बाद तो वे उनके शिष्य हो ही गए थे। बहुधा उनमें एकान्त में बातचीत होती, घण्टों और कभी-कभी दिनों तक। वे खाना-पीना-सोना भी भूल जाते। तब भी मैं उनके विषय को न समझ सका था और अब, इतना बड़ा होने पर भी, नहीं समझ सका। एक ही बात प्रकट थी कि वे बड़े भारी देशभक्त हैं। मैं भी देशभक्त था। बस, यही हमारा उनका नाता था। वह धीरे धीरे बढ़ा। पहले वह जैसे मुझे प्यार करते थे, वैसे अब वे शिशुकुमार को प्यार करने लगे। यह बात मुझे और मेरी पत्नी को बहुत भाती थी। पर वे कभी-कभी शिशुकुमार को छाती

से लगा कर मेरी ओर ऐसी मर्म-भेदिनी दृष्टि से ताकते थे कि मैं घबरा जाता था। तभी तो मैं कहता था कि वह दृष्टि बड़ी अद्भुत थी। उस समय मैं उसे समझा नहीं, समझा तब, जब मैं स्त्री, पुत्र, प्राण, जीवन सब कुछ उन्हें देकर महापथ पर महायात्रा के लिए अग्रसर हुआ। आज वे आँखें १५ वर्ष से प्रति क्षण मुझे घूर रही हैं। उनसे एक क्षण भी बचना मेरे लिए अशक्य है।

राजा साहब ने मुझसे जिस लिए परिचय बढ़ाया था, उसका मुख्य कारण धीरे-धीरे उन्होंने खोला। मै ज्यों-ज्यों सुनता था, भयभीत होता, पर यत्न से भय को छिपा कर उत्साह प्रदर्शित करता था। फिर भी मालूम होता, मानों वे सब समझ रहे हैं। वे थोड़ी-थोड़ी बातें करते और चले जाते। एक दिन हठात् मुझे बुला कर उन्होंने कहा—"क्या तुम अपने पिता के सच्चे पुत्र और साहसी देश-सेवक हो?" मैं ना कहता किस तरह? मैंने सिंह-गर्जन की तरह हुङ्कार भरी। राजा साहब ने मुख्य उद्देश्य बता दिया। मैं सन्न हो गया। वे मृत्यु को जेब में लिए फिरते थे, अपने लिए भी और मेरे लिए भी। उस महावीर के सम्मुख कायर बनना मेरे लिए शक्य न रहा। मैं हाँ करता गया। स्वामी जी के सम्मुख भी हाँ की। स्त्री ने हाहाकार किया, परन्तु एक अपूर्व गर्व-भावना मन में आ गई थी। मैं पीछे न हटा। मैंने अपना जीवन राजा साहब के हाथों सौंप दिया। फिर तो मैं इस तरह उड़ा, जैसे आँधी से उड़ाया हुआ और डाल से टूटा हुआ सूखा पत्ता।

३

मैंने अपनी आत्मा से अधिक उस पर विश्वास किया था। उसके पिता मेरे गुरु और परम श्रद्धास्पद थे। वे अपने जीवन

के प्रारम्भ मे ही देश के एक अप्रतिम सेवक रहे, उनकी सन्तान कैसे देश और जाति की मित्र न होगी ? मैं इसके विपरीत सोच ही न सका। इस प्रसङ्ग से प्रथम कई वर्ष से मैं उससे परिचित था। पत्र-व्यवहार और मुलाक़ात सभी में वह एक उत्कट देश-भक्त, वीर युवक ध्वनित होता रहा। जब मैंने उससे अपना गम्भीर अभिप्राय निवेदन किया, तो वह एकटक मेरे मुख को देखता रह गया। उसके होंठ और कण्ठ सूख गए। बड़ी चेष्टा करके उसने कहा—श्रीमन्, आपने राज्य और रियासत को धूल के समान त्याग दिया; राज्य, भोग और ऐश्वर्य से दूर हो गए; दिन-रात देश और जाति की ध्वनि आपके रोम-रोम से निकलती है। अब आप क्या सचमुच प्राणों की बाज़ी भी लगा देने को तैयार हैं ?

मैं तो तैयार ही था। बिना एक क्षण रुके मैंने कहा—"हाँ, हाँ, अब प्राणों को छोड़ कर मेरे पास और रह ही क्या गया है ? यह भी जिसकी धरोहर हैं, उसे जितनी जल्दी सौंप दिए जायँ उतना ही अच्छा। इस शरीर को इन प्राणों का भार अब सह्य नहीं है। यह गुलामी, यह काला जीवन, हमारा—हम समस्त भारतवासियों का—कैसा है, समझते हो ? जैसे, एक भेड़ के बच्चे का उस बाड़े के भीतर, जिसके फाटक पर शिकारी कुत्तों का पहरा लग रहा है। इस पहरे के भीतर राजा रहा तो क्या, प्रजा रहा तो क्या, जीवित रहा तो क्या और मर गया तो क्या ? बोलो तुम क्या कहते हो ?"

उसकी आँखों से झर-झर आँसू टपक गए। उसने गद्गद् कण्ठ से कहा—श्रीमन्, मैं भी कैसा अपदार्थ हूँ ! मैं अपनी स्त्री-बच्चे को त्यागने में कष्ट पा रहा हूँ, परन्तु आप—ओह !

आपके सम्मुख मैं लज्जित होने का कारण न पैदा होने दूंगा। मैं सोचूँगा, कल इसी समय मैं आपको वचन दूँगा। सिर्फ़ कल भर आप और रहने दीजिए।

"कुछ हर्ज नहीं, पर समझ लेना, मृत्यु की पद-पद पर आशङ्का है। भय और विपत्ति के बादलों में जाना होगा। ज़रा भी विचलित हुए, ज़रा भी स्त्री-बच्चों के मुख का स्मरण आया, ज़रा भी मन में भीरुता आई, तो देश अतल पाताल में गया ही समझना, साथ ही पचासों वीर मित्रों की जान जायगी। सब कुछ मिट्टी में मिल जायगा।"

"श्रीमन्, क्या आप नहीं जानते, मैं किसका पुत्र हूँ?"

"जानता हूँ, पर तुम्हें स्वयं भी कुछ होना चाहिए।"

"तब श्रीमान् का मुझ पर विश्वास नहीं?"

"विश्वास? विश्वास अपनी आत्मा से भी अधिक है। मैं अपने विश्वास से बेफ़िक्र हूँ। मैं यह चाहता हूँ कि तुम्हें स्वयं अपने ऊपर विश्वास हो।"

वह अधोमुख होकर सोचने लगा। मैंने मन में वेदना अनुभव की। लाखों युवकों में मैंने इसे चुना है, क्या मैं धोखा खाऊँगा?

मैंने उसे बिदा किया, वह चला गया।

दूसरे दिन ठीक समय पर मिलते ही उसने कहा—"श्रीमन्, मैं तैयार हूँ।" उसने अपना हाथ बढ़ा दिया। मैं घोर सन्दिग्ध अवस्था में था। क्षण भर मैं उसे देखता रहा। क्या यह सच है? महान् विचार-धाराओं के कार्य-रूप में परिणत होने का समय क्या आ गया? ओह प्यारे भारतवर्ष! × × × ठहरो। मैंने खड़ा होकर उसका स्वागत किया। मैं कुछ बोल न सका।

मेरे नेत्रों में आँसू थे। कुछ ठहर कर मैंने कहा—"प्यारे युवक, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। प्रत्येक खतरे को अपने सिर पर लूँगा। तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करूँगा, परन्तु फिर भी तुम्हें प्रतिज्ञा करनी है कि यदि कुअवसर उपस्थित हो, तो अपने प्राणों को, शरीर को अपदार्थ समझोगे। अभी तुम्हारे सम्मुख जो भयानक गम्भीर भेद प्रकट होंगे, उन्हें तुम्हारे हृदय से बाहर तब तक न आना चाहिए, जब तक कि तुम्हारे हृदय को चीर कर टुकड़े-टुकड़े न कर दिया जाय। तुम सदा यह समझ कर अपने जीवन को बलिदान करने के लिए तैयार रहना कि इससे सैकड़ों सच्चे वीरों के जीवन की रक्षा होगी। जो अब नहीं तो फिर कभी न कभी देश का उद्धार करेंगे।" युवक के नेत्रों में स्थिरता थी। उसने सहज-शान्त स्वर में कहा—श्रीमन्, हर तरह परीक्षा कर लें।

मैंने कहा—तुम्हारे पिता की भक्ति मेरे हृदय में धरोहर है। मैंने उनसे आदेश ले लिया है। तुम्हारी यही परीक्षा काफ़ी है। तुम केवल मुख से एक बार कह दो कि तुम भेदों को प्राणों से बढ़ कर समझोगे ?

"समझूँगा।"

"विपत्ति आने पर तुम स्थिर रहोगे ?"

उसी तरह, जैसे पत्थर की मूर्ति रहती है।"

"यदि तुम्हें मृत्यु का आलिङ्गन करना पड़े ?"

"तो मैं उसे अपने पुत्र की तरह गले लगाऊँगा ?"

"यदि तुम्हें भेद लेने के लिए असह्य वेदनाएँ दी जायँ ?"

"मैं धर्म से शपथपूर्वक कहता हूँ कि मृत्यु-पर्यन्त उन्हें सहन करूँगा।"

"यदि प्रलोभन दिए जायँ ?"

"वे मुझे विचलित नहीं कर सकेंगे।"

युवक के होठ काँपे। नेत्रों की पुतलियाँ चलायमान् हुईं। मैंने अधीर होकर कहा—प्रलोभन ? क्या प्रलोभन तुम्हें चलायमान् न कर सकेंगे ?

"नहीं श्रीमन्, अभी मैं बड़े से बड़े प्रलोभन को त्याग आया हूँ।"

मेरा सन्तोष न हुआ। मैं उठ कर टहलने लगा। मैं सोचने लगा—वेदना, यातना और मृत्यु, ये एक ओर हैं, परन्तु प्रलोभन ? ओह, इसका अन्त नहीं। यह युवक वेदना सहेगा, मृत्यु का आलिङ्गन भी करेगा। मैं विश्वास करता हूँ, पर प्रलोभन ? ओह, विश्वास नहीं होता। शायद उसे स्वयं भी विश्वास नहीं।

युवक ने मेरे पास आकर कहा—श्रीमान क्या विश्वास नहीं करते ?

"मेरे प्यारे मित्र, मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रहा हूँ। मुझे विश्वास करना चाहिए।" मैंने युवक को छाती से लगा लिया। मैंने कहा—"लो, अब हम-तुम एक हुए, एक महान् कार्य की पूर्ति के लिए। यदि परमेश्वर को अभीष्ट हुआ तो हम मर कर भी अमर होंगे। हम दोनों करोड़ों मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली हैं। हम पृथ्वी की महा विजयिनी शक्ति के सम्मुख चल रहे हैं—मरेंगे या विजयी होंगे।" आवेग में ही ये शब्द मुख से निकल गए। उसके बाद मेरा बाहुपाश कब शिथिल हुआ, कब वह युवक खिसक कर मेरे पैरों में आ गिरा, मुझे स्मरण नहीं।

४

जगत में असाधारण होना भी कैसा दुर्भाग्य है ! पृथ्वी की असंख्य आँखें उसी के छिद्रान्वेषण में लगी रहती हैं। वह यदि जगत के लिए मरता है, तो जगत की दृष्टि में यह उसका साधारण सा कर्तव्य है, किन्तु यदि वह एक क्षण भी अपने लिए जीता है, तो मानों पाप का पर्वत उसके सिर पर लद जाता हैं। क्या यह दुर्भाग्य नहीं ? अरे भाई, सभी कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, नर-नारी, अपने ही लिए तो जीते हैं ? अपने क्षण भर के सुख और जीवन के लिए अनगिनत प्राणियों को नष्ट कर डालते हैं। कोई भी तो उनसे कुछ नहीं कहता। फिर हम पर ही यह अग्नि-वर्षा क्यों ? मैंने सब कुछ त्यागा। जीवन के कष्ट और आपत्तियों को क्या कहूँ, अब तो सबको पार कर गया। अब उनकी स्मृति से क्यों मन को सन्ताप दूँ ? परन्तु शरीर और हृदय, ये जब तक जीवन-तत्त्व से संयुक्त हैं, तब तक तो प्रकृत सन्यस्त में सदैव कमी रहेगी ही। यह मेरा अब तक का अनुभव है।

मैं संन्यस्त हुआ सही, पर पिता का हृदय कहाँ रक्खा जाय ? पुत्र तो आत्मा और रक्त-मांस में से भाग देकर बना था, उसका मोह कहाँ तक त्यागूँ ? कहाँ तक निर्मोही बनूँ ? उसकी माँ तो उसे जन्म देकर ही मर गई थी। उसने अल्प जीवन में जो कुछ दिया, अब भी वह अतीत के सब सुखों के ऊपर नृत्य कर रहा है। उस मधुर स्मृति की एक अमिट रेख यह पुत्र था। इसे मैंने हाथों, हाथ पाला और उसे—जैसा कि मैंने चाहा था—संसार के सामने, क्रान्ति के नव्य कुमार के रूप में पेश किया। लक्षावधि देशवासी उस पर नाज़ करते थे और मैं अपनी सफलता पर

मुग्ध होता था—उसी तरह, जैसे किसान अपने कड़े परिश्रम से सींची हुई खेती को पकी देख कर मुग्ध होता है।

फिर भी मैं राजा साहब के बचन को न टाल सका। उनके भयानक साहस से मैं अवगत था। उनकी प्रत्येक गति-विधि से मैं परिचित था। पुत्र के अनिष्ट का भय पद-पद पर स्पष्ट था। किन्तु मुझे सहमत होना पड़ा। इसके अनेक कारण थे। देश के नाम पर बलिदान होने की मैं स्वयं उच्चस्वर से पुकार कर चुका था, पुत्र को भी यही शिक्षा दी थी। अब उसे उस मार्ग से रोक कर क्या राजा साहब और अन्य साथियों की दृष्टि में अपदार्थ बनता? लड़के में भी साहस और उत्साह था। पर उसके मर्मस्थल की दुर्बलता मैं जानता था। विलासिता उसे गिरावेगी, मुझे भय था। उसने वस्तुस्थिति को समझा ही नहीं। जब उसने स्वयं नवजात पुत्र और पत्नी का विसर्जन कर उस भयानक यात्रा और कठोर कर्तव्य-पथ पर राजा साहब का अनुकरण करने का अपना इरादा प्रकट किया, तब मैं स्तब्ध रह गया। मैंने कहा—"पुत्र, राजा साहब का मैं चिरसहयोगी हूँ, परन्तु केवल मुख से। तुम तो इतने उत्साह से यह बात कह रहे हो; कदाचित् तुम अवश्यम्भावी विपद् से अवगत नहीं। कार्य की गुरुता और कठिनाई तुम यथावत् नहीं समझ रहे हो, यह तुमसे होने वाला कार्य नहीं, महादुस्साध्य है। यह लोह-पुरुषों का महकमा है। इसके लिए वे पुरुष चाहिए; जो लोहे का शरीर, लोहे की आत्मा और लोहे का हृदय रखते हों। मेरे बेटे, मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम वह नहीं हो। घर में बैठो, बैठे-बैठे जो बने करो। देश और जाति के लिए यही यथेष्ठ है।"

उसने एक न सुनी। वह मूर्ख मुझ पिता के सम्मुख भी

कायर बनना न चाहता था। उसने अस्वाभाविक करारे स्वर में हठ प्रदर्शन किया और मुझे सहमति देनी पड़ी।

वही हुआ, जिसका भय था। पृथ्वी के उस छोर पर वे विपत्ति के अग्नि-समुद्र में बड़े कौशल और सावधानी से घुस रहे थे। अरे, जब अग्नि-समुद्र में घुसना था, फिर कौशल क्या? वह फँस गया, राजा साहब बाल बाल बच कर निकल भागे। मैं यहीं बैठा उनकी गति-विधि का निरीक्षण कर रहा था। महासमर की प्रचण्ड ज्वालाएँ यूरोप को भस्म कर रही थीं। उसकी चिनगारी कब मेरी कुटी को भस्म कर देगी, यह कहना शक्य न था। यूरोप के दैनिक पत्रों को देखने के अतिरिक्त मैं और कुछ कर ही न सकता था। मन ही न लगता था। उसके उस पत्र पर सरकारी गुप्त विभाग के सर्वोच्च अधिकारी की एक टिप्पणी थी। उसमें मैं समझ गया, पुत्र की मृत्यु का मूल्य बहुत अधिक है। वह मूल्य मेरे पास था तो, पर मैंने बहुत चेष्टा की कि प्राण देकर उस मूल्य को न दूँ। पर हाय! अवसर ही ऐसा आ गया, मेरे प्राणों का कुछ भी मूल्य इस सौदे में न रहा। उसने सब कुछ कह दिया था। उसके वक्तव्य की सत्यता के प्रमाण मात्र मेरे पास थे। मैं कई दिन उसके बच्चे को छाती से लगा कर तड़पता फिरा। अपने संन्यास-वेश की असत्यता मुझपर खुल गई। ओह, मुझे वह काला काम करना पड़ा। मैंने पुत्र के प्राणों की पिता की तरह रक्षा की।

पर इसके बदले हुआ क्या? देश भर में तलाशियों और गिरफ्तारियों की धूम मच गई। होनहार, अटपटे वीरों ने हँसते-हँसते फाँसी पाई। कुछ कालेपानी जाकर वहीं घुल गए। कुछ युग व्यतीत कर लौट आए। देशोद्धार का सुयोग अतल

पाताल में चला गया। मेरे दुष्कर्म का यह भेद एक राजा साहब को ही मालूम था, पर वे भारत में आ न सकते थे। एक पत्र उन्होंने भेजा था। ओह, जाने दो, जब उसे भस्म कर दिया है, तब उसकीचर्चा क्यों? जिस बात के भूलने में सुख है, उसे हट-पूर्वक स्मरण क्यों किया जाय?

५

महाजातियों का यह सङ्घर्ष कैसा सुन्दर है! यदि मैं भी इन्हीं जातियों में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त करता तो क्या आज चूहे की तरह इधर से उधर प्राण बचाता फिरता? महाशक्ति की सेनाओं की कमान इन्हीं हाथों में होती, पर जीवन में कभी वह क्षण आवेगा भी? आवे या न आवे, मैं अन्त तक न थकूँगा। भोजन और सोना कई दिन से नसीब नहीं हुए। नाविक के वेश में, मछलियों की सड़ी गन्ध में छिपे-छिपे सिर भिन्ना गया, पर विपत्ति तो अभी सिर पर है। वह दूर पर रणपोतों के तोपों का गर्जन सुनाई पड़ रहा है। वह सर्चलाइट का श्वेत सर्प समुद्र पर लहरा रहा है। किन्तु प्रभात होते ही तो किनारे लगेंगे? किनारे पर शत्रु हैं या मित्र, कौन जाने? मित्र हुए तो इस बार जान बची, पर यदि शत्रु हुए तो आज ही प्राणान्त है। जीवन भी कैसी चीज़ है? इस समय राजमहल याद आ रहे हैं। महारानी मानों करुण नेत्रों से झाँक रही हैं, परन्तु क्या इस महायुद्ध में मैं अपने वंशधरों की भाँति अपने देश के लिए जूझने में पीछे रहूँ? जूझने के ढङ्ग तो यथा-वसर निराले होते ही हैं, परन्तु जिन विदेशियों को मैं मित्र बना कर अपना और अपने देश का ऐसा गम्भीर दायित्व सौंप रहा

हूँ, वह क्या सच्चे रहेंगे ? एक विदेशी से प्राण छुड़ाने को दूसरे का आश्रय लेना सुन्दर नीति तो नहीं, परन्तु दूसरी गति भी नहीं थी। फिर, अब लौटने का उपाय भी तो नहीं है। एक बार देश में आग फैल जाय। अमन, आराम और शान्ति की इच्छा नष्ट हो जाय, देश जूझ मरने की हौंस मन में उत्पन्न करे, फिर तो आजादी स्वयं ही आ जायगी। यह महासमर तो महाराज्यों के भाग्य का निबटारा करेगा, महाजातियों के भाग्य का निबटारा तो कहीं अन्यत्र ही होगा। सुदूर पूर्व में शान्त समुद्र की लहरें रक्त से लाल होंगी, एशिया की प्रसुप्त आत्मा जाग्रत होकर हुङ्कार भरेगी, तब यूरोप का श्वेत दर्प ध्वंस होगा। उसी दिन के लिए तो मेरा आयोजन है। ओह ! अभी मुझे बहुत काम हैं, पहली यात्रा में ही यह विघ्न हुआ।

अभी मुझे बारम्बार चीन, जापान, रूस, अमेरिका और न जाने कहाँ-कहाँ जाना होगा। महाविध्वंस क्या योंही हो जायगा ? परन्तु वह युवक तो फँस गया। बुरा हुआ। बचना सम्भव ही न था। महासाहस उसमें न था। चिन्तनीय बात तो यह है कि सब कुछ उसे ज्ञात है। आवश्यक काग़ज़ भी बहुत से वहीं रह गए हैं। तब वह क्या प्राणों के लोभ से देश को चौपट करेगा ? विश्वासघाती होगा ? मरने में क्षण भर का ही तो दुःख है। वह अवश्य उसे सह लेगा, भेद न खोलेगा। फिर भी सचेत रहना आवश्यक है। मुझे अब नया कार्यक्रम बनाना उचित है। अपने मार्ग की गति भी बदलनी उचित है। ये नाविक विश्वसनीय हैं, परन्तु मैं कुछ और ही करूँगा।

ओह देश ! मेरे प्यारे स्वदेश !! यह तन, मन, धन, सब तुझ पर न्यौछावर है। तेरी एक-एक रज-कण में मेरे जैसे लाख

शरीर बनते-बिगड़ते हैं। फिर इस शरीर का क्या मोह ? मेरे प्यारे स्वदेश ! मैंने सब कुछ तुझे दिया है। अब प्राण भी दूँगा। इस धरोहर को पास रखने योग्य अब मेरे पास ठौर भी नहीं रह गई है। आह, क्या कभी मैं तुझे देख सकूँगा ? वह नील श्यामल रूप ! अरे, बचपन की क्या-क्या बातें याद आ रही हैं ? परन्तु नहीं, मुझे इस समय कायर नहीं बनना चाहिए। मैं प्रण करता हूँ, देश की भूमि पर तभी पैर रक्खूँगा, जब उसे पूर्ण स्वाधीन कर लूँगा।

६

प्राण बचे तो, पर वे मोल बिक गए थे। उन पर मेरा क़ाबू न था। अब स्वेच्छानुसार मैं न कुछ कर सकता था, न सोच सकता था। उन बहुमूल्य गोपनीय बातों के बदले मुझे गुप्त विभाग में उच्च पद मिला था। मेरे प्राण जैसे मेरे लिए क़ीमती थे, वैसे ही उस गुप्त विभाग के लिए भी थे। मेरा जीवन रहस्यमय था। मेरे हृदय में कुछ और भी है, तथा मेरी ओट में कुछ रहस्य-भेद होगा, इस तत्त्व ने मेरे प्राणों को इस अधम शरीर में सुरक्षित रक्खा और इस कापुरुष ने यही ग़नीमत समझा। शिशु की फैली हुई बाँह और हँसता हुआ मुख मैं कुछ काल तक देखता रहा, उस जेल-यन्त्रणा और मृत्यु की कोठरी में भी और इस अफ़सरी की सुखद किन्तु भीषण कुर्सी पर भी। परन्तु पाप के पथ पर तो पाप की हाट लगी ही रहती है। फिर लिली की बात क्यों छिपाऊँ ? न जाने क्यों वह मुझ अभागे पर मुग्ध हुई। उसका पति मेरा उच्च ऑफिसर था। हम लोगों ने

विष द्वारा उस कण्टक को दूर कर दिया। अब लिली थी और मैं था। परन्तु मृतात्मा हमारे बीच में जीवित की अपेक्षा अधिक भयानक रूप में थी। एक बार फाँसी के फन्दे को हम दोनों ने अपने संयुक्त गर्दनों के इर्द-गिर्द देखा। हमने सोचा-यहाँ से भाग चलें। तार दिया, जहाज़ का टिकट भी ले लिया, पर भाग न सके। जहाज़ पर ख़ूनी असामी कह कर पकड़े गए। लिली का रोना देखने योग्य था। पर वह छूटती कैसे, हड्डियों तक घुस गई थी। हताश, दोनों मृत्यु का आलिङ्गन करने को तैयार हो गए। परन्तु ये कठिन प्राण तो इस शरीर में जम कर बैठे थे। उन्हीं-शक्तियों ने प्राण बचा लिए। मैं लिली के मृतक पति के पद पर, उसी मृतक के नाम से बैठ गया। लिली अब वास्तव में मेरी पत्नी थी। अब मानों मैं मर गया हूँ, मैं नहीं हूँ, जिसे मैंने लिली के लिए मारा, मानों वह मैं हूँ। शिशु का वह हास्य और पत्नी के वे नेत्र अब भी कभी-कभी स्वप्न की तरह स्मरण आते हैं, पर पूर्वजन्म की इन बातों में अब क्या रक्खा है? लिली से मैं अब भी प्यार की आशा करता था। छिः! कैसी विडम्बना है! पति के हत्यारे को प्यार करना क्या साधारण है? फिर यदि प्रेम की सुखद गोद में हत्या जैसा पाप घुस जाय, तब वह जिन्हें सुखद प्रतीत हो वे निश्चय ही राक्षस होंगे। हृदय की उन वेदनाओं को क्या कहा जाय, जिन्होंने शरीर को नष्ट कर दिया है? और वह अभागा भी कैसा दुखी जीव है, जो उसीके साथ रहने को विवश किया गया है, जो उससे घृणा करती है? हमारे रस की प्रत्येक बूँद में विष है, पर उसे रस कह कर पीना हम दोनों के ही लिए अनिवार्य है हाय रे प्रारब्ध!

७

मैं अभागिनी अबला स्त्री क्या करती ? मरना सुखकर था, परन्तु शिशुकुमार के मन्द हास्य ने उसे दुरूह कर दिया। क्या कोई भी माँ अपने फूल-से बच्चे को इस तरह हँसते छोड़ कर मर सकती है ? अब तो मैं पहले माँ थी, पीछे पत्नी। इसी लिए गोद के शिशु को धरती में पटक कर परोक्ष पति के नाम पर मरना मेरे लिए सम्भव ही न रहा। मैं सुख-दुःख के बीच झूलती रही। मैं मृत्यु और जीवन की ड्योढ़ियों में पड़ी ठोकर खाती रही। मुझ दुखिया के कष्ट, मूक मनोवेदना का अनुमान तो कीजिए ! मेरी बात पूछने वाला कौन था ? मेरे मन को सहारा किसका था ? मैं पति के सहवास-काल की प्रत्येक घटना, प्रत्येक बात, अपनी आँखों से प्रति क्षण देखती. सोते समय और जागते समय भी। मैं कभी हँसती और कभी रो देती। कभी सोते-सोते या बैठे ही बैठे चमक उठती। मुझे ऐसा प्रतीत होता था मानों वे आ गए। उन्होंने अभी-अभी शिशुकुमार को आवाज़ दी है। कण्ठ-स्वर को मैं प्रत्यक्ष सुन पाती। मैं द्वार की ओर दौड़ती, परन्तु तत्काल ही समझ जाती, ओह ! कुछ नहीं, यह सब मनोविकार था। मैं नहीं कह सकती कि सोने के समय जागती थी या जागने के समय सोती थी। प्रायः मैं जड़वत् बैठी रहती। उस समय मैं किसी की कोई बात ही न सुन पाती थी। मैं उस समय देखती थी—वे उन्हें पकड़ कर फाँसी पर चढ़ा रहे हैं, उनके शरीर में तलवारें घुसेड़ रहे हैं। शरीर रक्त से भर रहा है। मैं एकाएक चीत्कार कर उठती, और फिर धरती पर धड़ाम से गिर कर बेहोश हो जाती थी।

शिशुकुमार को देख कर ही मैं सचेत रह सकती थी। मुझे तब वास्तव में हँसना ही पड़ता था : वह उनके सिखाए ढङ्ग पर मेरे गले मे बाहें डाल कर जब ज़रा-ज़रा तोतली वाणी से सितार की झनकार के स्वर में कहता—"माताजी, 'रूठो मत' तब मै मानों किसी गूढ़ जगत से एकाएक भूतल पर आती। होठों पर मुस्कान न आती, पर नेत्रों में आँसू आ जाते थे। उन्हें शिशु-कुमार से छिपाने के लिए मैं उसे ज़ोर से छाती से लगा लेती थी।

उस दिन स्वामी जी एकाएक मेरे सम्मुख आ खड़े हुए। उनके होंठ काँप रहे थे और पैर लड़खड़ा रहे थे। उनके मुख पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, वे कुछ कहना चाहते थे, पर बोली न निकलती थी। मैं घबरा कर उठ खड़ी हुई। मैंने कभी उन्हें इतना विचलित न देखा था। मैंने कहा—"बात क्या है पिता जी ?" "वह जीवित है, वह आ रहा है"—वे अधिक न बोल सके। आँसुओं की धारा उनके नेत्रों से बहने लगी। उन्होंने मुँह फेर कर अच्छी तरह रुदन किया।

मेरे शरीर में रक्त की गति रुक गई। मेरी हड्डी-हड्डी काँपने लगी। मैंने खड़े रहने की बड़ी चेष्टा की, पर न रह सकी। मेरा सिर घूम रहा था, छाती फटी पड़ती थी। मैं बैठ गई या गिर गई, स्मरण नहीं।

स्वामी जी ने घूम कर कहा—"बेटी, आज सातवीं तारीख है। दस तारीख के प्रातःकाल जहाज़ बम्बई के बन्दर पर लगेगा। हमें आज ही चलना होगा। तुम अपना आवश्यक सामान ले लो। अभी समय है। गाड़ी साढ़े नौ पर खुलती है।" वे इतना कह कर चले गए।

मार्ग में मैं जीवित थी या मृत, नहीं कह सकती। बम्बई

कब पहुँची, स्मरण नहीं। रेल दौड़ रही थी, मैं मानों आकाश में घुसी जा रही थी, मानों मैं अभी सूर्य-मण्डल को भेदन करूँगी। डेक पर सहस्रावधि नर-नारी खड़े थे। एक भीमकाय जहाज़ उन्मत्त समुद्र की जल-राशि के हृदय को विदीर्ण करता हुआ भयानक दानव की तरह तट की ओर निकट आ रहा था। मेरी संज्ञा प्रायः लुप्त थी। डेक पर लगते ही नर-नारियों का समुद्र किनारे उतरने लगा। मैं सम्पूर्ण चेष्टा से उनके बीच कुछ खोज सकने भर की संज्ञा सञ्चित कर रही थी। सब कुछ एक रङ्गीन बिन्दु के समान दीख पड़ता था। नहीं कह सकती, कब तक हम लोग खड़े रहे। हठात् स्वामी जी ने कहा—"इस जहाज़ में तो वह नहीं है। क्या कारण हुआ ?" उनके प्रदीप्त नेत्र दूर तक घूम कर मेरे मुख पर आ लगे। बम्बई आने पर यही शब्द मैं ठीक-ठीक सुन सकी। मैं समझी, यह सब भ्रम-भरी-चिका थी। वे नहीं आए, वे नहीं आवेंगे। मैंने अनन्त तक फैली हुई जल-राशि पर दृष्टि दौड़ाई। हठात् मेरे मनमें एक भाव उदय हुआ। मैंने कहा—"पिताजी, तब मैं वहाँ जाऊँगी।" मेरे ये शब्द मेरे ही कानों में तोप के भीषण गर्जन की तरह प्रतीत हुए।

स्वामी जी ने मेरे मुख की तरफ देखा। उन्होंने आश्वासन देकर कहा—"अवश्य कुछ कारण हुआ है। पत्र या तार शीघ्र मिलेगा। तब भविष्य के कर्त्तव्य पर विचार करेंगे। अभी घर चलो।" मैंने एक पग भी न हिलाया। बहुत तर्क हुआ। विजय मेरी हुई। सोते हुए शिशुकुमार को छोटी बहू की गोद में सौंप, उसे बिना ही अच्छी तरह देखे, उसे बिना ही चूमे, मैं अनन्त समुद्र के पार, उस अज्ञात प्रदेश में, उस पति को ढूंढ़ लाने चली। मेरा माता होना धिक्कार हुआ। हाय रे! अधम नारी-हृदय!!

८

इस कृष्णकाय और साधारण पुरुष ने क्या जादू कर दिया ? ओह, मैंने कैसा घोर दुष्कर्म किया ? अब इन रक्त-रञ्जित हाथों को कौन प्यार करेगा ? यही व्यक्ति ? और वह कितना भयानक, कितना घृणास्पद है ! क्यों यह पापिष्ठ हमारे बीच में आया ? क्यों इसने हमारे प्रशान्त प्रेम में आग लगाई ? मैं इसे घृणा करती हूँ। पति की मृतक आँखें कैसी चमक रही हैं ! वे सब कुछ जानती हैं। उन्होंने अपना सभी प्रेम और विश्वास मुझे दिया, इसीलिए कि मैं अपनी वासना के लिए उनका प्राण हरण करूँ ? परन्तु अब तो मैं इसके साथ रहने के लिए बाध्य हूँ, छुटकारा पा नहीं सकती। यह वह विदेशी कृष्णकाय हत्यारा नहीं, मेरा वही पति है। इसमें क्या राजनैतिक महत्त्व है, इसे तो वह गुप्त-विभाग जाने, जिसने इस भाग्यहीन को इतना बड़ा पद दिया है। पर मैं कैसे यह मान लूँ ? क्या आँखें फोड़ लूँ. हृदय को चीर डालूँ ?

सुनती थी कि यह विवाहित है। इसके पुत्र, पत्नी है। आज उसे देख भी लिया। वह इसे ले जाने के लिए यहाँ आई है, पर वह सब कैसे सम्भव हो सकता है ? अब यदि यह अपना पूर्व नाम भी स्मरण करेगा, तो उसको सज़ा मौत है। और कैसी भयानक बात है ! मैं उससे मिली, कितनी सीधी-सादी, दुखिया स्त्री है ? वह अपने हठ पर है। किन्तु उसे मालूम नहीं कि प्रबल और समर्थ हाथ उसके विपरीत है। अपराध का इतना समर्थन कहाँ किसी ने देखा होगा ? ओफ़ !

६

कल मैंने उन्हें देखा। वही थे, किन्तु कितना परिवर्तन हो गया है! फिर भी मेरी आँखें क्या उन्हें भूल सकती थीं? उन्होंने भी देखा। मैं समझ गई, उनकी हड्डी तक काँप गई है, पर क्यों? वे दौड़ कर क्यों नहीं मेरे पास आए? इतना डरे क्यों? क्या पहचाना नहीं? ओह, हे ईश्वर, तब मेरे लिए ठौर कहाँ है? इतना करके भी मैं वञ्चित रही? आशा के कच्चे तार के सहारे ये प्राण इस अधम शरीर को यहाँ तक ले आए। आकर जो पाना था पाया भी, पर क्या मैं पाकर भी न पा सकूँगी? ओह, पति के नाम पर मर मिटने वालियों से भी मेरा साहस बढ़ कर है। मैं आगे बढ़ी। दिन छिप गया था। गहरा कोहरा इस विदेश की महानगरी में अद्भुत भयानक मालूम होता था। प्रकाश-स्तम्भों की धुँधली रोशनी में मैं उनके पीछे बढ़ो चली गई और साहस पूर्वक उनका हाथ पकड़ लिया। उन्होंने रुक कर देखा, भद्र विदेशी भाषा में उन्होंने कहा—"देवी, आप कौन हैं? क्यों आपने मुझे रोका है? आपका क्या काम है, कहिए?" अरे! वही तो कण्ठस्वर था। सदा तो इसे मैंने सुना है, पर यह अपरिचित शब्द-जाल कैसा? मैं रो उठी, मैं गिर गई, चरणों पर नहीं, धरती पर। उन्होंने मुझे उठाया, तसल्ली दी। मैंने देखा—वही, वही, वही है। मैंने गले में बाँहें डाल दीं। जितना रो सकती थी, रोई। मैंने कहा—"दासी पर यह निष्ठुरता क्यों? यदि यह अपराधिनी है, तो शिशुकुमार को क्यों भूल गए? देखो प्यारे, वह सूख कर काला हो गया है। वह सदैव तुम्हारा ही नाम रटा करता है। तुमने स्वयं

उसे अपना नाम रटाया था।" वे भी रो उठे। अन्त में उन्होंने कहा—"प्रिये, धीरज धरो। मेरे कलेजे की आग देखो। मैं जीवन्मृत हूँ, मैं कब का मर चुका हूँ। सरकारी खातों में मेरी मृत्यु-तिथि दर्ज है। पर जो वास्तव में मर गया है, उस नाम में मैं जीवित हूँ। उसका नाम मेरा नाम है, उसका पद मेरा पद है, उसकी स्त्री मेरी स्त्री है। ओह! वह मुझे घृणा करती है, और मैं उसे। हम दोनों हत्या के अभियुक्त हैं। फाँसी की रस्सी हम दोनों की गर्दनों के चारों ओर पड़ी है। ज्योंही हमने यह भेद खोला—अपना पूर्व नाम जाना, कि उसका फन्दा कस दिया गया। उसी दिन यह अधम देह प्राणों से रहित हो जायगी।"

मैंने यह भेद समझा ही नहीं। मैं अवाक् रह गई। पर जो कुछ सुनना था, सभी सुना। मैंने कहा—"मैं अधिकारियों से कहूँगी, क़ानून से लड़ूंगी।" उन्होंने कहा—"सभी तरह मेरे प्राण जायगे। मेरे प्राण लेकर तुम क्या करोगी? क्या इसी लिए यहाँ आई हो?"

मैं क्या करती? मैं मूर्च्छित हो गई। उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"मेरे पास बहुत धन हो गया है। चाहे जितना ले जाओ। शिशुकुमार को पढ़ाओ और अपने सधवा होने की बात भूल जाओ। मैं यदि मर सकता तो तभी मरता, जब वीर की तरह मरने का संयोग आया था। अब इस तरह जीने के बाद, ज्यों-ज्यों पाप और कायरता शरीर में घुसती जाती हैं, त्यों-त्यों मैं मरने से भय खाता जाता हूँ। प्रिये, तुमने बहुत सहन किया है, और भी सहन करो। मुझे तब तक जीने दो, जब तक जी सकता हूँ। ग्लानि और अनुताप को मैं सहन कर गया हूँ। इससे अब ज्यादा कष्ट और कौन होगा?"

मैंने कहा—"जिस मूल्य में तुम जीवित रहो, वह मैं दूँगी। मैं भयभीत नहीं, शोकाकुल भी नहीं। दस वर्ष पूर्व मैं भीरु स्त्री थी, पर तुम्हारे वियोग और जीवन की कठिनाइयों ने मुझे पुरुष-सा साहसी बना दिया है। अब मैं उन तमाम अतीत स्मृतियों को भूल जाऊँगी, जिनके सहारे जी रही थी। जब तुम 'जीवन्मृत' हो, तो मैं भी जीवन्मृत हुई। वह सब कुछ पिछले जन्म की बातें हुईं। वह गङ्गा का उपकूल, वह जीवन के उल्लास पूर्ण दिवस, उस दिन वनवीथिका में तुम्हारा खो जाना, वह शिशुकुमार के जन्म से प्रथम का प्यार, उसके जन्म-दिन का वह दुर्लभ उपहार—आह! वह सब मेरे पूर्वजन्म की बातें हैं। मैं उस जन्म में पुत्रवती, सौभाग्य-सिंदूर की अधिकारिणी, प्रेम और दुलार की पुतली थी। आज उन्हें भूलना भी कठिन और याद रखना भी दुर्लभ! पर भूलूँ तो क्या? और क्या याद रक्खूँ तो क्या? जिसे पा नहीं सकती, उसकी कल्पना करने से ही क्या लाभ?"

मेरे इस असाधारण साहस का यही फल हुआ। मैंने उन्हें विदा किया, इस जन्म के लिए। मेरा उनका शरीर-सम्बन्ध विच्छेद हुआ। उन्होंने मुझे बहुत-कुछ देना चाहा, पर मैंने स्वीकार न किया। मैंने कहा—"तुमने अपने सुख के दिनों में जो शिशुकुमार मुझे दिया है, वही मेरे लिए बहुत है। मैं उसीके सहारे अवशिष्ट आयु काट दूँगी। तुम—तुम—जाओ और पाप, छल, पाखण्ड, विश्वासघात में जीवन बिताओ। मेरे जीवन्मृत स्वामी, तुम्हें धिक्कार है! मैं तुम्हारा धन छू नहीं सकती, मैं पसीना बेच कर अपना और शिशुकुमार का पेट भरूँगी।" मैं चली आई।

खूनी

[उन दिनों हुतात्मा श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी जेल में थे, तभी प्रताप में यह कहानी छपी थी, पढ़कर उन्होंने लेखक को एक कार्ड लिखा था। उसमें केवल एक ही वाक्य था—"खूनी से प्रताप धन्य हो गया।" इन बातों को आज तीस बरस हो रहे होंगे। लेखक तब आज के गुरुगरिमा-पूर्ण आचार्य न थे, उत्तप्त अँगारों पर नृत्य करने वाले कलाकार थे। गान्धी जी का अहिंसातत्त्व का तब जन्म ही हुआ था—और इस कहानी के लेखक ने गान्धीवाद पर अपनी अप्रतिम रचना 'सत्याग्रह-और असह-योग' रची ही थी, जो उन दिनों गीता की भाँति पढ़ी जा रही थी। क्रान्तिकारियों के आए दिन आतंकपूर्ण साहसिक कार्य सुन पड़ते थे, किसी क़लम के धनी का और सरस्वती के वरद पुत्र का यह साहस न था कि उनके आतङ्कवाद की ओर अँगुली भी उठाए—तभी आचार्य ने शुद्ध अहिंसा की राजनीति का एक प्रभावशाली रेखा चित्र इस कहानी में चित्रित किया था]

१

उसका नाम मत पूँछिए। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस सूरत को आँखों से दूर करने को पागल हुआ फिर रहा हूँ। पर वह नाम और वह सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूँ, वह निडर है, मैं रोता हूँ—वह हँसती है, मैं मर जाऊँगा-वह अमर है।

खूनी

मेरी उसकी कभी की जान पहिचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा थी। सब दल के आदमी आए थे, वह भी आया था। मेरा उसकी ओर कुछ ध्यान न था। वह मेरे पास ही खड़ा एक कुत्ते के पिल्ले से किलोल कर रहा था। हमारे दल के नायक ने मेरे पास आकर सहज गम्भीर स्वर में धीरे से कहा—"इस युवक को अच्छी तरह पहिचान लो, इससे तुम्हारा काम पड़ेगा।"

नायक चले गए, और मैं युवक की ओर झुका, मैंने समझा—शायद नायक हम दोनों को कोई एक काम सुपुर्द करेंगे।

मैंने उससे हँसकर कहा—"कैसा प्यारा जानवर है!" युवक ने कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मेरे मुख पर डाल कर कहा—"काश! मैं इसका सहोदर भाई होता!" मैं ठठाकर हँस पड़ा। वह मुस्कुराकर रह गया। कुछ बातें हुईं। उसी दिन वह मेरा मित्र बन गया।

दिन पर दिन बीतते गए। अछूते प्यार की धाराएँ दोनों हृदयों में उमड़ कर एक धार हो गईं। सरल अकपट व्यवहार पर दोनों एक दूसरे पर मुग्ध होते गए। वह मुझे अपने गाँव ले गया। किसी तरह न माना, गाँव के एक किनारे स्वच्छ अट्टालिका थी। वह गाँव के ज़मींदार का बेटा था। इकलौता बेटा। हृदय और सूरत का एकसा। उसकी माँ ने दो दिन में ही मुझे बेटा कहना शुरू कर दिया। अपने होश के दिनों में मैंने वहाँ सात दिन माता का स्नेह पाया। फिर चला आया। अब तो बिना उसके मन न लगता था। दोनों के प्राण दोनों में अटक रहे थे, एक दिन उन्मत्त प्रेम के आवेश में उसने कहा था—"किसी अघट

घटना से जो हम दोनों में से एक स्त्री बन जाय तो मैं तो तुम से ब्याह ही कर लूँ।"

नायक से कई बार पूँछा—क्यों तुमने मुझे उससे मित्रता करने को कहा था। वह सदा यही कहते—"समय पर जानोगे। गुप्त सभा की भयंकर गंभीरता सब लोग नहीं जान सकते!" नायक मूर्तिमान भयंकर गंभीर थे।

२

उस दिन भोजन के बाद उसका पत्र मिला। वह मेरी पाकेट में अब भी सुरक्षित है। पर किसी को दिखाऊँगा नहीं। उसे देखकर दो सांस सुख से ले लेता हूँ, आँसू बहाकर हल्का हो जाता हूँ। पुराने रोगी को जैसे कोई दवा खुराक बन जाती है, मेरी वेदना की भी यह चिट्ठी खुराक बन गई है।

चिट्ठी पढ़ भी न पाया था, नायक ने बुलाया। मैं सामने सरल स्वभाव से खड़ा हो गया। बाहरों प्रधान हाज़िर थे। सन्नाटा भीषण सत्य की तस्वीर खींच रहा था। मैं एक ही मिनिट में गम्भीर और दृढ़ हो गया। नायक की मर्मभेदिनी दृष्टि मेरे नेत्रों में गड़ गई, जैसे तप्त लोहे के तीर आँख में घुस गए हों। मैं पलक मारना भूल गया। मानों नेत्रों में आग लग गई हो। पांच मिनिट बीत गए। नायक ने गम्भीर वाणी से कहा—"सावधान! क्या तुम तैयार हो?"

मैं सचमुच तैयार था। मैं चौंका नहीं। आखिर मैं उसी सभा का परीक्षार्थी सभ्य था। मैंने नियमानुसार सिर झुका दिया। गीता की रक्तवर्ण रेशमी पोथी धीरे से मेज पर रख

दी गई। नियमपूर्वक मैंने दोनों हाथों से उठाकर उसे सिर पर चढ़ा ली।

नायक ने मेरे हाथ से पुस्तक ले ली। क्षण भर सन्नाटा रहा। नायक ने एकाएका उसका नाम लिया और क्षण भर में ६ नली रिवालवर मेज पर रख दिया।

वह छः अक्षरों का शब्द उस रिवालवर की छओं गोलियों की तरह मस्तिष्क में घुस गया। पर मैं कम्पित न हुआ। प्रश्न करने और कारण पूछने का निषेध था। नियमपूर्वक मैंने रिवालवर उठाकर छाती पर रक्खा और स्थान से हटा।

३

तत्क्षण मैंने यात्रा की। वह स्टेशन पर हाजिर था। अपने पत्र और मेरे प्रेम पर इतना भरोसा उसे था। देखते ही लिपट गया। घर गए, चार दिन रहे। वह क्या कहता है, क्या करता है, मैं देख सुन नहीं सकता था। शरीर सुन्न हो गया था, आत्मा दृढ़ था—हृदय धड़क रहा था, पर विचार स्थिर थे।

चौथे दिन प्रातःकाल जल-पान करके हम स्टेशन की ओर चले। तांगा नहीं लिया, जंगल में घूमते जाने का विचार था। काव्यों की बढ़ बढ़ कर आलोचना होती चलती थी। उस मस्ती में वह मेरे मन की उद्विग्नता भी देख न सका। धूप और खिली, पसीने बह चले। मैंने कहा—चलो, "कहीं छांह में बैठें।" घनी कुञ्ज सामने थी। वहीं गए। बैठते ही जेब से दो अमरूद निकाल कर उसने कहा—"सिर्फ दो ही पके थे, घर के बगीचे के हैं। यहीं बैठकर खाने के लिए लाया था—एक तुम्हारा, एक मेरा।" मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खड़ा

हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था। उसका ध्यान उसी के स्वाद में था। मैंने धीरे से रिवालवर निकाला, घोड़ा चढ़ाया और कम्पित स्वर में उसका नाम लेकर कहा:—"अमरूद फैंक दो और भगवान का नाम लो–मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ–उसने कहा—"बहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो।" मेरा धैर्य छूट रहा था। मैंने दबे कण्ठ से कहा—"अच्छा खालो।"—खाकर वह खड़ा हो गया। सीधा तन कर। फिर उसने कहा––"अब मारो गोली।" मैंने कहा—"हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली ही मारता हूँ, तम भगवान का नाम लो।" उसने हँसी में ही भगवान् का नाम लिया और फिर वह नकली गम्भीरता से खड़ा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दबाकर कहा—"ईश्वर की सौगन्ध! हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

मेरी आँखों में वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिलाकर उसने कहा:––"मारो।"

एक क्षण भर भी विलम्ब करने से मैं कर्तव्य च्युत हो जाता। पल पल में साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। दोनों गोली छाती को पार कर गईं।

मैं भागा नहीं। भय से इधर उधर मैंने देखा भी नहीं, रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी। रक्त साफ किया। आँखों में इतनी ही देर में कुछ का कुछ हो गया था। देर तक उसे गोद में लिए बैठा रहा–जैसे माँ सोते बच्चे को जागने के भय से निश्चल लिए बैठी रहती है।

फिर मैं उठा। इन्धन चुना, चिता बनाई–और जलाई, अन्त तक वहीं बैठा रहा।

बारहों प्रधान हाजिर थे। उसी स्थान पर जाकर मैं खड़ा हुआ। नायक ने नीरव हाथ बढ़ाकर रिवालवर माँगा। रिवालवर दे दिया। कार्यसिद्धि का संकेत सम्पूर्ण हुआ। नायक ने खड़े होकर वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा––"तेरहवें प्रधान की कुर्सी हम तुम्हें देते हैं।" मैंने कहा—'तेरहवें प्रधान की हैसियत से मैं पूछता हूँ कि उसका अपराध मुझे बताया जाय।"

नायक ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया––"वह हमारे हत्या सम्बन्धी षड्यन्त्रों का विरोधी था। हमें उस पर सरकारी मुखबिर होने का सन्देह था।" मैं कुछ कहने योग्य न रहा। नायक ने वैसी ही गम्भीरता से कहा–"नवीन प्रधान की हैसियत से तुम यथेच्छ एक पुरस्कार माँग सकते हो।"

अब मैं रो उठा। मैंने कहा–"मुझे मेरे बचन फेर दो। मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त कर दो, मैं उसी के समुदाय का हूँ! तुम लोगों में नंगी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो, तो तुम अपने को देशभक्त कहने से इन्कार कर दो। तुम्हारी इन कायर हत्याओं को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी, सलाही और मित्र नहीं रह सकता, तुम तेरहवीं कुर्सी को जला दो।"

नायक को क्रोध न आया। बारहों प्रधान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहे। नायक ने उसी गम्भीर स्वर में कहा––"तुम्हारे इन शब्दों की सजा मौत है। पर नियमानुसार तुम्हें क्षमा पुरस्कार में दी जाती है।"

मैं उठ कर चला आया। देश भर घूमा, कहीं ठहरा नहीं। भूख प्यास, विश्राम और शान्ति की इच्छा ही मर गई दीखती है। बस अब वही पत्र मेरे नेत्र और हृदय की रोशनी हैं। मेरा वारन्ट निकला था, मन में आई कि फाँसी पर जा चढ़ूँ। फिर सोचा, मरते ही उस सजन को भूल जाऊँगा। मरने में अब क्या स्वाद है? जीना ही चाहता हूँ। किसी तरह सदा जीते रहने की लालसा मन में बसी है। जीते जी ही मैं उसे देख और याद रख सकता हूँ।

क्रांतिकारिणी

[स्वर्गीय ग्रेटब्रिटेन के इस्पाती शिकन्जे मे दबे हुए भारत की एक दर्द भरी कराह का एक स्नेपशार्ट लेने का लेखक को कहीं अकस्मात् ही एक सुअवसर मिल गया है। कहानी कहते २ लेखक शायद हँसना चाहता था—परन्तु उसकी आँखें पहिले ही गीली हो गईं। साहित्यकार का सहृदय होना भी तो एक आफत ही है।]

१

गर्मी बड़ी तेज़ थी। पर क्या किया जाय, मित्र की कन्या के विवाह में तो जाना ज़रूरी था। तबियत ठीक न थी, छोटे बच्चे को चेचक निकल आई थी। पत्नी ने बहुत ही नाक भौं सिकोड़ी, पर मुझे जाना ही पड़ा। मैं इन्टर-क्लास के एक छोटे डिब्बे में अनमना सा हो कर जा बैठा। मन मे तनिक भी प्रसन्नता न थी। बच्चे का ध्यान रह रह कर आता था। लू और धूप दोनों अपने ज़ोर पर थीं, डिब्बे में मैं अकेला था। गाड़ी ने सीटी दी। जो लोग प्लेटफार्म पर खड़े थे, लपक कर अपने अपने डब्बे में चढ़ गए। मैंने देखा, मेरे डब्बे में भी एक युवती लपक कर सवार हो गई है।

उसकी आयु २०–२२ वर्ष की होगी। वह दुबली-पतली थी। नाक कुछ लम्बी, पर सुडौल थी। होंठ पतले और दाँत श्वेत और सुन्दर थे। आँखें बड़ी-बड़ी थीं, उनमें कुछ अद्भुत गूढ़ता छिपी थी। वे चंचल भाव से चारों तरफ़ नाच रही थीं। साधारणतया वह एक साधारण युवती दिखलाई पड़ती थी, पर ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता था। कि वह कुछ दिन पूर्व सुन्दर रही होगी—अब भी वह सुन्दर थी। पर अब चिन्ता और कठोर जीवन ने उसके उठते हुए यौवन को जैसे झुलसा कर विद्रूप कर डाला था।

मैं बारंबार उसे कनखियों से देखने लगा। मन में कुछ बुरा भाव न था; पर वह कुछ अद्भुत-सी लग रही थी। मुझे इस तरह घूरते देख कर वह कुछ विचलित हो उठी। वह बारंबार खिड़की से बाहर मुँह निकाल कर देखती थी, मानो उसके मन में यह हो रहा था कि स्टेशन आए, और वह उतर कर भागे।

मैं अपनी हरकत पर लज्जित हुआ। वह थोड़ी देर में स्थिर हुई, और कुछ रोष-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी। मैंने झेंपकर जेब से एक अँगरेजी दैनिक निकाला और पढ़ने लगा।

हठात् अँगरेजी के संक्षिप्त और तीखे, किंतु मृदुल शब्द कान में पड़े। उसने पूछा था—

"कहाँ जा रहे हैं?"

शुद्ध अँगरेजी उच्चारण सुनकर मैंने अकचकाकर उसकी ओर देखा, वह तीव्र दृष्टि से मेरी ओर ताक रही थी। वह दृष्टि एक बार बलात् मेरे हृदय में घुस गई। मैं काँप गया—क्यों? यह नहीं कह सकता। मैंने कुछ शंकित स्वर में कहा—"मेरठ, आप कहाँ जाएँगी?"

मानो मेरा प्रश्न उसने सुना ही नहीं। उसने फिर पूछा—"आप वहीं रहते हैं ?"

अपने प्रश्न का उत्तर न पाना मुझे अच्छा नहीं लगा, पर मैंने संयम से कहा—"नहीं, मैं दिल्ली रहता हूँ। वहाँ मैं एक मित्र के यहाँ शादी में जा रहा हूँ।"

मैंने देखा, इस उत्तर से उसे कुछ संतोष हुआ, और उसके चेहरे का भाव बदल गया। इस बार उसने कोमल तथा विनम्र स्वर में पूछा—"आप दिल्ली में क्या काम करते हैं ?"

"मैं वकील हूँ।"

यह उत्तर सुन कर वह कुछ देर चुप रही, फिर उसने कहा—"क्षमा कीजिए, मैं वकीलों से घृणा करती हूँ, परन्तु आप एक सज्जन आदमी प्रतीत होते हैं।" उसकी इस दबंगता पर मैं हैरान हो गया। पर मैं उसकी बात का बुरा न मान सका। स्वीकार करता हूँ—एक प्रकार से उसका रुआब मुझपर छा गया, मैंने अत्यन्त नम्रता से पूछा—

"क्षमा कीजिए, यदि हर्ज न हो, तो आप अपना परिचय दीजिए।"

"मेरा परिचय कुछ नहीं, पर आप चाहें तो मुझे कुछ सहायता दे सकते हैं।"

मैं कुछ सोच ही न सका। मैंने उतावली से कहा—"बहुत खुशी से। मैं यदि कुछ आपकी सहायता कर सका, तो मुझे आनन्द होगा।"

उसने बिना ही भूमिका के कहा—

"मैं केवल एक दिन आपके मित्र के यहाँ ठहरना चाहती हूँ।"

मेरे मित्र मेरठ के प्रसिद्ध रईस हैं। उनका वहाँ अपना घर है बहुत भारी कोठी है। इस युवती को वहाँ ठहराने में कोई बाधा न थी। मेरे मुँह से निकल गया चाहा कि अवश्य, पर मैं सोचने लगा—यह इतनी निर्भीक, तेजस्विनी और अद्भुत युवती कौन है? एका-एक मेरे मुँह से कुछ बात न निकली।

वह कुछ देर चुपचाप मेरी तरफ देखती रही। कुछ क्षण बाद मैंने पूछा—"परन्तु आपका परिचय?"

उसने रुष्ट होकर कहा—"परिचय कुछ नहीं।" और मुँह फेर कर फिर गाड़ी के बाहर देखने लगी।

न जाने क्यों मैं अपने आपको धिक्कारने लगा। मैंने सोचा अनुचित बात कह डाली। मुझे किसी युवती का इस प्रकार परिचय पूछने का क्या अधिकार है। पर एकाएक किसी अपरिचित युवती को मैं किसी के घर में क्या कहकर ठहरा सकता हूँ।

उस युवती का कुछ ऐसा रुआब मेरे ऊपर सवार हुआ कि मैंने अपनी कठिनाई बड़ी ही अधीनता से उसे सुना दी। उसने उसी भाँति तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर ताकते हुए स्थिर स्वर से कहा—"इसमें कठिनाई क्या है?

"वे लोग आपका परिचय पूछेंगे।"

"कहिए, बहिन हैं, दूर के रिश्ते की हैं, यह भी चली आई हैं। विवाह-समारोह में तो स्त्रियाँ विशेष उत्सुक रहती ही हैं।"

मैं अब अधिक नहीं सोच सका। मैंने कहा—"तब चलिए, वह एक प्रकार से मेरा ही घर है, कुछ हर्ज नहीं। पर अब तो आप बहिन हुईं न, अब तो परिचय दीजिए।"

परिचय का नाम सुनकर फिर उसकी त्योरियों में बल पड़ गए, और वह रोष में आ गई। उसने अत्यधिक रूखे स्वर में

कहा—"तीन बार तो कह चुकी महाशय, परिचय कुछ नहीं।"

अब मुझे कुछ भी कहने का साहस न हुआ। वह भी नहीं बोली। चुपचाप गाड़ी से बाहर ताकती रही। गाजियाबाद आ गया।

मैंने बातचीत का सिलसिला शुरू करने के विचार से पूँछा—"आपको कुछ चाहिए तो नहीं?"

"नहीं।" उत्तर जैसा संक्षिप्त था, वैसा ही रूखा भी था। ऐसी अद्भुत स्त्री तो देखी नहीं। मैंने सोचा, बड़ा बुरा किया, जो ठहराने का वचन दिया। न जाने कौन है, पर कोई भी हो, शिक्षिता है, और बुरे विचारों की भी नहीं है। अवश्य कोई कुलीन स्त्री है। कुछ खानगी कारणों से यहाँ आई होगी। अंग-रेज़ी पढ़ी लिखी लड़कियाँ ऐसी ही उद्धत हो जाती हैं।

मैं यह सोच ही रहा था कि पाँच-छः आदमी डब्बे में चढ़ आए; इनमें एक पुलिस का दारोग़ा भी था। दो खुफिया पुलिस के सिपाही थे। दारोग़ा ने युवती की सीट पर बैठ कर पूँछा—

"आप कहाँ जाएँगी?"

वह बोली नहीं।

दारोग़ा साहब ने साथ के कान्सटेबिल से कुछ संकेत किया और फिर पूँछा—

"आपने सुना नहीं, मैंने आपसे ही पूँछा, आप कहाँ जाएँगी?"

इस बार उसने दारोग़ा की ओर घूम कर देखा, और शुद्ध अंगरेजी में कहा—"क्या आप टिकट चेकर हैं, या रेल के कोई कर्मचारी, आप क्यों पूछते हैं। और किस अधिकार से?" इसके बाद उसने मेरी ओर देखकर कुछ कोप पूर्ण स्वर में, शुद्ध हिंदी-भाषा में, कहा—

"तुम चुपचाप बैठे तमाशा देख रहे हो, और यह आदमी बिना कारण मुझसे सवाल पर सवाल करता जा रहा है। इस बेशर्म को स्त्रियों से फ़ालतू बातचीत करते ज़रा भी शर्म नहीं आती।"

मैं चौंक पड़ा। दारोग़ा मेरी ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखने लगा। दो और भद्र पुरुष, जो डब्बे में आ गए थे, वे भी युवती के इस करारे उत्तर से चमत्कृत हो गए। मैंने सँभल कर कहा—

"वह मेरी बहिन है, हम लोग मेरठ एक शादी में जा रहे हैं, आप क्या जानना चाहते हैं?" दारोगा एक दम झेंप गया, वह शायद मुझे जानता था। युवती ने एक क्षण मेरी ओर देखा—उसके होठ काँपे, और फिर वह खिड़की के बाहर ताकने लगी। दारोग़ा ने ज़रा झिझकते हुए कहा—"माफ़ कीजिए मैं पुलिस···"

भद्र पुरुषों ने कहा—"आप चाहे भी जो हों, पर स्त्रियों से ऐसा व्यवहार आपको न करना चाहिए, खासकर जब मर्द सफ़र में साथ हों।"

दारोग़ा ने कहा—"आप लोग और वकील साहब और बहिन-जी भी मुझे क्षमा करें—मैंने बड़ी भूल की। पर मेरा मतलब कुछ और ही था।"

मैंने शेर होकर कहा—"आप लोगों का हमेशा और ही मतलब हुआ करता है, पर भले घर की बहिन-बेटियों की कुछ इज्जत-आबरू होती है जनाब?" दारोग़ा साहब बहुत लल्लो-चप्पो करने लगे। बीच में एक स्टेशन और आया। मैं अभी तक दारोग़ाजी को डाँट रहा था। युवती ने साफ शब्दों में कहा—"भाई, जरा

पानी ले लो।" मैंने गिलास में पानी लेकर उसे दिया, वह पानी पीकर चुपचाप फिर खिड़की के बाहर मुँह निकाल कर बैठ गई।

मेरठ आया, हम लोग चले। उसके पास कुछ भी सामान न था। वह काले खद्दर की एक साड़ी पहने थीं। और एक छोटी सी पोटली उसके हाथ में थी। ज़ेवर के नाम उसके बदन पर काँच की चूड़ियाँ तक न थी। पैरों में जूते भी न थे। वह चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चली आई। मैंने ताँगा किया, और वह पीछे की सीट पर बैठ गई। मैं आगे की सीट पर बैठा, और ताँगा हवा हो गया।

२

बहुत चेष्टा करने पर भी मैं उससे उसका नाम पूँछने का साहस न कर सका! मैं सोचता था, वहाँ कोई नाम पूँछेगा, तो बताऊँगा क्या? पर फिर भी पूँछ न सका। मित्र का घर आ गया। और मैंने उसे बहिन कहकर भीतर भिजवा दिया। उसने जाते-जाते कहा—"अवकाश पाकर आप एक घंटे में मुझसे मिल लें।" मैंने स्वीकृति दी, और वह चली गई।

एक घंटे बाद मैं भीतर उससे मिलने गया। वह स्नान आदि से निवृत्त हो तैयार बैठी थी। मुझे देखते ही उसने कहा—"एक टैक्सी मेरे वास्ते ला दीजिए, मुझे कहीं जाना है।"

मैंने सोचा, मेरठ जैसे छोटे से शहर में इसे टैक्सी में कहाँ जाना है। मैंने कुछ दबी ज़बान से कहा—"ताँगे से भी तो काम चल जायगा।" उसने रुखाई से कहा—"नहीं, टैक्सी चाहिए!" अजब औरत थी। ज़रा-सी बात मन के विरुद्ध हुई नहीं कि उसके नेत्रों और चेहरे पर रुखाई आई नहीं।

मैंने टैक्सी मँगाने नौकर को भेज दिया। अब मेरे मन में एक बात आई, इसे कुछ रुपए भी खर्च को देने चाहिए। पर कहूँ कैसे? जो नाराज़ हो जाय तो? इसका जैसा वेष है, उसे देखते तो दरिद्र मालूम होती है, काफ़ी सामान तक पास नहीं। मैं पशोपेश में पड़ा कुछ सोच ही रहा था, एकाएक उसने कहा—"एक कष्ट और आपको दूँगी।" मैंने समझा, अवश्य यह कुछ रुपया माँगेगी। मैंने जेब से मनीबेग निकालते हुए कहा—"कहिए!"

उसने अपने हाथ की पोटली खोली, और एक बन्डल निकाल कर मेरे हाथ में थँमा दिया। देखा, नोटों का गट्ठर है। सौ-सौ रुपये के नोट थे। मैं अवाक् रह गया। उसने सहज भाव से कहा—"पन्द्रह हज़ार रुपये हैं। इन्हें ज़रा रख लीजिए, कहीं रास्ते में गिर-गिरा पड़ें, कहाँ-कहाँ लिए फिरूँगी।" मेरा तो सिर चकराने लगा। स्त्री है या मायामूर्ति, कपड़े तक बदन पर काफ़ी नहीं, और पन्द्रह हज़ार रुपये हाथों में लिए फिरती है। और बिना गवाह-प्रमाण मुझ अपरिचित को सौंप रही है, मानो रद्दी अख़बारों का गट्ठर हो। मैंने कहा—"ठहरिए, रक़म को इस भाँति रखना ठीक नहीं।"

उसने लापरवाही से कहा—"मैं लौटकर ले लूँगी, अभी तो आप रख लीजिए।" जिस लहजे में उसने कहा, मैं अब टालमटोल न कर सका। काठ की पुतली की भाँति नोटों का बंडल हाथ में लिए विमूढ़ बना खड़ा रहा।

टैक्सी आई और वह लपककर उसमें बैठ गई। एक क्षीण मुस्कुराहट उसके मुख पर आई। उसने टेक्सी से मुँह निकाल कर कहा—"एक बात के लिये क्षमा कीजिएगा! मैंने रेल में

आपको 'तुम' कहा था। आवश्यकता-वश ही यह अनुचित घनिष्ठता का वाक्य कहना पड़ा था।" वह मानो और भी खुल-कर मुस्कुरा पड़ी, और उसकी सुन्दर मोहक दंत पक्ति की एक रेखा आँखों में चौंध लगा गई। दूसरे ही क्षण मोटर आँखों से ओझल होगई।

३

तीन दिन बीत गए। न वह आई न उसका कुछ समाचार ही मिला। तीनों दिन मैं एकटक उसकी बाट देखता रहा। न सोया, न खाया, न कुछ किया। कब विवाह हुआ और कब क्या हुआ? मुझे कुछ स्मरण नहीं! मानों हज़ार बोतलों का नशा सिर पर सवार था। छाती पर नोटों का गट्ठर और आँखों में वह अंतिम हास्य! बस, उस समय मैं इन्हीं दो चीजों को देख और जान सका। मित्र हैरान थे। पर मैं तो मानो गहरे स्वप्न में मग्न था।

तीसरे दिन डाक से एक पत्र मिला। उसमें लिखा था—"भाई, मुझे क्षमा करना, अब मैं आप से नहीं मिल सकती। वे रुपये जो आपको दे आई हूँ, मेरठ-षडयंत्र केस में खर्च करने को वहाँ के माननीय अभियुक्तों की राय से उनके वकीलों को दे दीजिए। मैं इसी काम के लिए मेरठ गई थी—आपसे मिलकर अनायास ही मेरा यह काम हो गया। रुपया इस पत्र के पाने के २४ घंटे के भीतर ठिकाने पर पहुँचा दीजिए, वरना जो लोग इसकी निगरानी के लिए नियत हैं, वह इस अवधि के बाद तत्काल आपको गोली मार देंगे। सावधान! दग़ा या असाव-धानी न कीजिएगा। इस पत्र के उत्तर की आवश्यकता नहीं।

रुपया ठिकाने पर पहुँचते ही मुझे तत्काल उसका पता लग जायगा।

आपकी,
धर्म-बहिन"

एक बार पत्र पढ़कर मेरा संपूर्ण शरीर काँप उठा, और पत्र हाथ से गिर गया। इसके बाद मैंने झटपट झुककर पत्र को उठा लिया। भय से इधर-उधर देखा, कोई देख तो नहीं रहा। मेरी आँखों में आँसू भर आए। मैं नहीं जानता क्यों? मैंने पत्र को एक बार चूमा, और फिर आँखों और माथे से लगाया। इसके बाद उसे उसी समय जला दिया। नोटों का बण्डल अभी भी मेरी जेब में था।

४

रुपए मैंने किसे दिए, वह प्राण देकर भी मैं किसी को नहीं बताऊँगा। हाँ, इतना अवश्य कह देता हूँ कि मैं इस काम से निपट कर शीघ्र ही दिल्ली चला आया। पर कई दिन तक कचहरी न जा सका। ऐसा मालूम होता था, मानो शरीर की जान-सी निकल गई हो। एक दिन संध्या-समय मेरे नौकर ने कहा—"कुछ लोग बहुत आवश्यक काम से आप से भेंट किया चाहते हैं।" बैठक में जाकर देखा तो वही दारोग़ा जी थे। उनके साथ सुपरिंटेंडेंट पुलिस और सी०आई०डी० इन्स्पेक्टर भी थे। देखते ही मेरे देवता कूच कर गए। देखा सारा मकान घेर लिया गया है। किन्तु मैंने ज़रा रूखे स्वर से पूँछा—"कहिए, क्या बात है?"

"दारोग़ाजी ने थोड़ा हँसकर कहा—"कुछ नहीं, ज़रा आपकी

बहिनजी से एक बार मुलाक़ात करके उनसे कुछ पूँछना है ?" क्षण-भर के लिए मेरे शरीर में खून की गति रुक गई। पर वकीली दिमाग़ ने समय पर काम दिया।

मैंने नकली आश्चर्य प्रदर्शन करके कहा—

"उनसे आपको क्या पूछना है ?"

"यह मैं आपको नहीं बता सकता।"

"यह कैसे संभव हो सकता है कि आप पर्दनशीन महिला से इस तरह बातचीत कर सकें।"

"बातचीत तो जनाब हो चुकी है, मैं जानता हूँ, कि वे पर्दे की क़ायल नहीं।"

मैंने और भी आश्चर्य का भाव चेहरे पर लाकर कहा—"आप कब उनसे बातचीत कर चुके हैं ?"

"क्या आप भूल गए—उसी दिन रेल में।"

"मैं नहीं समझता, आप किस दिन की बात कह रहे हैं ?"

दारोग़ाजी जोर से हँस पड़े। उन्होंने डाढ़ी पर हाथ फेर कहा—"यह तो अभी मालूम हो जायगा।"

मैंने खूब ग़ुस्से का भाव चेहरे पर लाकर कहा—"किस तरह ?"

"आप कृपा कर उन्हें ज़रा बुलवा दीजिए।"

मैंने क्षण-भर सोचने का बहाना किया, फिर मैंने नौकर को बुलाकर कहा—"जाओ, ज़रा बीबी जी को बुला लाओ।"

क्षण-भर ही में रेवती सशरीर सामने आ खड़ी हुई।

दारोग़ा को काटो तो खून नहीं ! मैंने उनकी तरफ़ न देखकर रेवती से पूछा—

"रेवती, कभी तूने इन से बातचीत की थी ?"

"कभी नहीं ?"

दारोगाजी ने घबराकर कहा—"यह वे नहीं हैं साहब।"

मैंने रेवती को जाने का इशारा करके कहा—"जनाब, मैं आप पर हतक़ का दावा करूँगा ?" सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब अब तक चुपचाप बैठे थे। बोले—"आपकी कुल कितनी बहिन हैं ?"

मैंने कहा—"एक यही है।"

"यह आपके साथ उस दिन मेरठ जा रही थीं ?"

"यह कल ही कलकत्ते से आई हैं।"

"तब उस दिन आपके साथ कौन थी ?"

"किस दिन ? मुझे कुछ याद नहीं आता। आप किस दिन की बात कह रहे हैं ?"

दारोगाजी बोल उठे—"यह तो अच्छी दिल्लगी है।"

मैंने कहा—"जनाब, दिल्लगी के योग्य मेरा आपका कोई रिश्ता नहीं है।"

सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब झल्ला उठे। बोले—"आपके मकान की तलाशी ली जायगी, यह वारण्ट है।"

मैंने और भी ग़ुस्से और लाचारी के भाव दिखाकर कहा—"विरोध करना फ़जूल है, आप जो चाहें, सो करें। मैं कानूनी कार्यवाही कर लूँगा।

छै-सात घण्टों तक तलाशी होती रही। पुलिस ने सारा घर छान डाला।

खीझकर सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब बाहर निकल आए। मैंने भी खूब रोष दिखाकर कहा—"जनाब, अब आप ज़रा तलाशी पर अपनी रिपोर्ट भी लिख दीजिए।"

सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब मेरी ओर घूरने लगे, पर मैंने बाजी

मार ली थी। वही धवल दंत-पंक्ति मेरी आँखों में प्रकाश डाल-कर हृदय में साहस का संचार कर रहीं थीं। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने कहा—"क्या आप उस स्त्री के विषय में कुछ भी नहीं नहीं बताएँगे ?"

"किस स्त्री के सम्बन्ध में ?"

"जो उसदिन आपके साथ मेरठ जारही थी ?"

"किस दिन ?"

सुपरिन्टेन्डेंट साहब चुपचाप होठ चबाते रहे। दारोगा जी झेंप रहे थे, बड़बड़ा भी रहे थे। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने हैट उठा-कर कहा—"बहुत अच्छा, अभी तो जाते हैं। लेकिन बेहतर था, आप सब बता देते।"

मैंने ज़ोर से मेज़ पर हाथ पटककर कहा—"कल ही मैं आपसे अपने इस अपमान का जवाब तलब करूँगा।"

सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब चल दिये। मैं भी साथ ही बाहर तक आया। सैंकड़ों आदमी इकट्ठे हो गए थे। जब पुलिस अपनी लारी में लद गई, तो मैंने पूँछा—"आप ईश्वर के लिए यह तो बता दीजिए कि आप किसे ढूँढ़ते फिरते हैं ?"

सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने खीझकर कहा—

"मिसेज़ भगवती चरण को।"

वारंट

[बच्चे जैसे खेल में धाँधलेबाजी करते हैं, चालाकी और छल ! वञ्चना करके साथियों को उल्लू बनाते हैं, माता पिता सब देखते हैं सब समझते हैं और मुस्कुरा देते हैं। उसी भाँति इस कहानी में कलाकार असली में फसली देश भक्तों को देखकर ज़रा मुस्कुराया है। सिर्फ इतना ही नहीं, उसने उनका जरा-सा कान भी मल दिया है, शायद एक तमाचा भी जड़ा है।]

१

मई-महीने की बात है। देश में तीन वाक्य मूर्तिमान्-से लहरा रहे थे—'इन्क़लाब ज़िंदाबाद', 'भगतसिंह ज़िंदाबाद', 'नमक-क़ानून तोड़ दिया'। इनमें से दो बातें तो सिर्फ ज़बानी जमा-खर्च थीं, तीसरी अमल में आ रही थी। गाँव-गाँव कड़ाह चढ़े थे, पानी उबल रहा था, नमक बन रहा था। नमक नहीं बन रहा था, नमक-क़ानून तोड़ा जा रहा था। यों, जो नमक बनता था, वह जान और आबरू के मोल का था।

दिल्ली और शाहादरे के बीच जो जमुना का कछार है, उसमें भट्टी बनी थी। शाहादरे के खारी पानी का उसमें श्राद्ध हो रहा था।

वारंट

अनेक पुरुष श्वेत खद्दर की राष्ट्रीय वर्दी डाटे और महिलाएँ केशरिया बाना धारण किए क़ानून तोड़ने में जुटी थीं। लार्ड इरविन का ज़माना था। मृदु दमन में लाठी चार्ज का शस्त्र आविष्कृत हो चुका था। शक्तिशाली लार्ड इरविन की सरकार जिन सैनिकों के लिए प्रतिवर्ष बासठ करोड़ रुपए खर्च करती थी, उन्हें अफीम की पीनक में ऊँघता छोड़, तोप, बंदूक, मशीनगन, बम आदि को वक्त-बेवक्त के लिए सुरक्षित रख, लाठी का स्वाद इन कानून-तोड़ स्त्री-पुरुषों को चखा रही थी। बुद्धिमान अँगरेज दूसरों की तबियत को फौरन समझ जाते थे, भारतीयों को लाठी ही प्रिय है, इसलिये लाठी-चार्ज ही उनके लिए अमल में लाया जा रहा था। मालूम होता है, उन्हें चकबस्त का वह मिसरा याद था—

"जर्मन तेरी तोपों में हम बाँस चला देंगे !"

बस, उधर नमक-कानून टूट रहा था, इधर केस चलाए जा रहे थे। इस शुद्ध स्वदेशी युग में, शुद्ध खद्दरधारियों पर, शुद्ध भारतीय बाँस की, शुद्ध लाठियाँ जब-तब शुद्ध अहिंसा-वृत्ति से बरसाई जाया करती थीं। ऐसे ही गुनगुने वे दिन थे।

२

संध्या के समय कोई डेढ़ पाव नमक बनाकर कड़ाही-कर-छुल, कोरे बरतन वालंटियर लोगों के कंधे पर लादे महामान्य लीडरगण अपने चप्पलों को अंगरेजों की बनाई तारकोल की चमचमाती सड़क पर चप-चप चलाते, सिंह का-सा सीना उभारे, पान कचरते, मठोलियाँ मारते, धरती में भूकंप उदय करते शहर को लौट रहे थे। जमना के पुल के उस पार देखा, एक लारी

पर कोई दस-पन्द्रह कांस्टेबल, लाल लाल पगड़ियाँ सिर पर डाटे, बड़ी-बड़ी लाठियाँ कान से ऊँची किए, बीच सड़क में खड़े हैं। सबके आगे कलाबत्तू के झब्बे की खाकी पगड़ी पहने, चुस्त वर्दी कसे, इंस्पेक्टर साहब भी डटे हुए हैं।

जैसे अचानक साँप को देखकर बालक डर जाय, उसी भांति वह लीडरों, लीडरानियों और स्वयंसेवकों की पार्टी एक बारगी स्तंभित हो गई। जिनके मुँह में पान था, वह मुँह में रहा, जिनके मुँह में बात थी, वह बात भी मुँह में रही। डिक्टेटर साहब एक अखबार के एडीटर थे। एडीटर तो हुए थे पेट के लिए, पर एडीटर को लीडर और लीडर+एडीटर को डिक्टेटर बनना अनिवार्य होना ही चाहिए, इसलिये एडीटर उर्फ लीडर उर्फ डिक्टेटर सबसे आगे साथ थे। परंतु इस लाल झंडी को देखते ही उनकी सब टर हवा हो गई। कानून-तोड़ रेलगाड़ी वहीं स्टाप हो गई। सब एक दूसरे का मुँह देखने लगे। वे आँखों में कह रहे थे—"पुलिसजेल, पुलिस-जेल।"—एक महिला ने आगे बढ़कर दर्प से कहा—"भाइयो, डरने की क्या बात है, आगे बढ़ो, अगर ये हमें गिरफ्तार करने आए हैं तो चलिए, हम गिरफ्तार होंगे।"

पार्टी में गर्मी आगई। पहले धीरे-धीरे, पीछे स्वाभाविक गति से पार्टी-की-पार्टी आगे बढ़ी। निकट आने पर इन्स्पेक्टर ने सबको ठहरने का संकेत किया। फिर वह मोटर की छत पर चढ़ गया, और वहाँ से उसने एक कागज में से कुछ लोगों के नाम सुनाकर कहा—"इनके नाम वारंट हैं। इनमें से जो हाज़िर हों, वे थाने में पहुँच जायँ।" सुनकर भीड़ ने तीनों पेटेंट नारे बुलंद किए।

डिक्टेटर साहब ने अपना नाम लिस्ट में न सुनकर संतोष की साँस ली; फिर जरा रुआब से आगे बढ़कर बोले—

"क्या मैं जान सकता हूँ कि मेरा नाम इस लिस्ट में क्यों नहीं ?"

इंस्पेक्टर ने मुस्कुराकर कहा—"मैं अफसरों से पूँछकर बता सकता हूँ !"

"मगर मैं इन सबके साथ जाऊँगा।"

वहाँ बिना बुलाए मेहमानों के लिए जगह नहीं है।" इंस्पेक्टर हँसा, और दल-बल-सहित चला गया।

पार्टी क्षण-भर चकित रही। फिर नारे लगाए, और आगे बढ़ी। डिक्टेटर साहब ने पूँछा—"तो क्या आप लोग थाने में जाकर गिरफ्तार होंगे ?"

"अवश्य, हम लोग थाने जा रहे हैं।"

"और मैं ?"

"आप हमें पहुँचाकर आफिस जायँ, दूसरा बैज तैयार करें, कल यहाँ आकर फिर नमक बनाएँ।"

इसके बाद पार्टी ने सफ बनाई, और देश-भक्ति के गीत गाती कोतवाली की तरफ चली। नगर-निवासियों की भीड़ उसके साथ थी। कौमी नारे आसमान और धरती को दहला रहे थे।

कोतवाली के फाटक पर पहुँचकर दल रुका। पुलिस-इंस्पेक्टर ने डिक्टेटर साहब से कहा—

"अब आप क्या चाहते हैं ?"

"हम गिरफ्तार होना चाहते हैं।'

"मगर आपका वारंट तो है नहीं।"

"मैं नहीं जानता, मैं गिरफ्तार हूँगा।"

"तब आप कुछ बोलिए—भाषण दीजिए।"

"मैं भाषण नहीं दूँगा।"

"तो फिलहाल आप घर जाइए।"

इंस्पेक्टर ने अपने असामियों को अंदर किया। और डिक्टेटर साहब इन्कलाब जिन्दाबाद के नारों में तैरते हुए घर पहुँचे। दूसरे दिन उन्हीं के अखबार में उनकी वीरता, साहस आदि के बखान के साथ ही उनका फोटो भी छपा।

३

इसके तीन दिन बाद। डिक्टेटर साहब कांग्रेस-आफिस में बैठे थे। इर्द-गिर्द लीडर और लीडरानियाँ भी थीं। बहुत-सी बातें हो रही थीं, टर्र साहब की उस दिन की हेकड़ी की चर्चा ज़ोरों पर थी।

एक ने कहा—"कमाल किया आपने। जब आप शेर के समान सीना तानकर उनके सामने खड़े हुए, तो देखते बनता था।"

दूसरी एक महिला बोली—"क्यों नहीं, मगर उसे इन पर हाथ उठाने की जुर्रत न हुई।"

तीसरे महाशय बोले—"क्या कहने हैं आपके। नोंक-झोंक भी वह की कि वाह! पट्ठा कहने लगा, भाषण दो।"

डिक्टेटर महाशय उँगलियों की पोर से सामने की टेबुल को ठक-ठक करते हुए कहने लगे—"मैं तो कौम का एक अदना खिदमतगार हूँ। मैं किस लायक हूँ।"

टन-टन-टन् फोन की घंटी बजी। टर्र साहब ने फोन उठाकर कहा—"हलो, कौन हैं?"

"मैं पुलिस-थाने से बोल रहा हूँ।"

टर्र साहब ने आँखें कपार पर चढ़ाकर कहा—"पुलिस-थाने से ?"

मित्र-मंडल ने चमककर पूँछा—"क्या पुलिस-थाने से ?"

"जी हाँ, आप···प्रसाद डिक्टेटर हैं न ?"

"हाँ-हाँ मैं डिक्टेटर हूँ साहब।"

"तो आपका वारंट है।"

"वारंट !" डिक्टेटर साहब का चेहरा सफेद हो गया। मित्र-मंडली ने उत्तेजित होकर कहा—"वारंट ?"

"जी हाँ, वारंट है, आप क्या चाहते है ? आपको गिरफ्तार करने हम लोग वहाँ आएँ, या आप स्वयं गिरफ्तार होने थाने में तशरीफ ला रहे हैं।"

"थाने में ?" धीमे स्वर से टर्र साहब के मुँह से निकल गया। उन्होंने थूक सटककर मित्रों से पूँछा—

"कहिए, आपकी क्या राय है ? वे पूछते हैं, थाने में मैं आ रहा हूँ, या वे लोग गिरफ्तार करने यहाँ आवें ?"

सब लोग चीखकर बोले—"हम लोग आपका जुलूस बना कर ले चलेंगे। उनसे कह दीजिए, उन्हें अपने मनहूस कदम यहाँ लाने की जरूरत नहीं।"

फोन खट् से रख दिया गया। मित्रों में स्फूर्ति आ गई, एक महाशय ने उछलकर फोन उठा लिया, और दनादन नगर के दस-बीस मुख्य-मुख्य ठिकानों को फोन कर दिया। देखते-ही देखते आफिस के बाहर आदमियों की भीड़ लग गई। 'इन्कलाब जिंदाबाद' के नारों से आस-पास के मकान हिल गए। वालंटियर लोग सफ़ बाँधकर खड़े हो गए। महिला-मंडल केश-

रियाबाना धारण किए, राष्ट्रीय गान गाता आ धमका। बड़ा-सा कौमी झंडा झूमने लगा।

टर्र साहब के घर की स्त्रियों ने उनकी निकासी बड़ी तैयारी से उसी भाँति की, जिस भाँति दूल्हे की घुड़चढ़ी होती है। उन्हें नहला-धुलाकर बढ़िया वस्त्र पहनाए गए। दही-रोरी का तिलक लगाया, और फूलों का हार गले में पहनाया।

सज-धजकर डिक्टेटर साहब जब बाहर आए, तो बज्र-गर्जन की भाँति तीनों नारे बुलंद हुए। एक बढ़िया मोटरकार लोग माँग लाए थे, उसे फूलों से सजा दिया गया था। टर्र साहब धर्मपत्नी-सहित उसमें बैठे, और हज़ारों स्त्री-पुरुषों के जुलूस के साथ पुलिस-कोतवाली की ओर चले।

४

ज्योंही जुलूस निकलकर बाजार में आया, खटाखट बाजार की दुकानें बंद होने लगीं। पूरी हड़ताल हो गई। थाने तक पहुँचते-पहुँचते जुलूस ५ हज़ार आदमियों का हो गया।

थाने के फाटक पर जुलूस रुका। थानेवाले चौकन्ने हो गए। पुलिस के जवानों ने लाठियाँ सँभालीं। टर्र साहब फूल-मालाओं से लदे हुए मोटर से उतरे। चुने हुए लीडरों के साथ डिक्टेटर साहब शान से अकड़ते हुए थाने में घुस गए। भीड़-सहित स्वयं-सेवक-दल बाहर 'इन्क़लाब ज़िंदाबाद' के नारे बुलंद करता रहा।

थानेदार साहब बैठे ज़रूरी काग़ज़ात देख रहे थे। डिक्टेटर साहब और लीडर साहबान को इस शान से आते देख उन्होंने बड़े तपाक से उठकर उनसे हाथ मिलाया। कुर्सियाँ मँगाईं। बैठने पर टर्र महाशय ने मुस्कुराकर कहा—"मैंने खुद ही आना मुनासिब समझा।"

दारोग़ाजी मिलनसार थे। बोले—"बड़ी मिहरबानी की।" इसके बाद उन्होंने एक सिपाही को पान लाने का हुक्म दिया। कुछ देर दोनों पार्टियाँ चुप रहीं।

पान खाने के बाद दारोग़ाजी ने कहा—"कहिए, मैं आपकी क्या ख़िदमत कर सकता हूँ।"

"हमें बहुत ख़ुशी है कि आप इतने ख़ुशअख़लाक़ हैं। आख़िर तो हमारे भाई ही हैं। आप अपनी ड्यूटी पूरे तौर पर अदा करते हैं, इसका हमें ज़रा भी मलाल नहीं।"

दारोग़ाजी ने चिंता का भाव मुख पर लाकर कहा—"हमें आप साहबान के भाई कहलाने की इज़्ज़त तो नहीं मिल सकती, अलबत्ता आप हमें ख़िदमतगार कह सकते हैं। अमन-अमान क़ायम रखने के लिए हमारी उतनी ही ज़रूरत आपको है, जितनी सरकार को!"

"बेशक, बेशक।" दो-तीन लीडरान बोल उठे—"आप ख़ुशी से अपनी ड्यूटी अदा कीजिए।"

बात आगे बढ़ती जा रही थी। पुलिस-थाना चौपाल बन रहा था। बेचारे दारोग़ाजी कुछ मतलब नहीं समझ रहे थे। बाहर भीड़ ने आफ़त मचा रक्खी थी। सिपाही कई बार भीड़ को हटाने की इजाज़त माँग चुके थे। परंतु दारोग़ाजी इस इंतज़ारी में थे कि ये लोग कुछ कहें, तो इनके यहाँ आने का कारण मालूम हो।

आख़िर उन्होंने कहा—"आप लोगों के लिये शर्बत मँगाया जाय?"

"जी नहीं, आपकी मिहरबानी है!"

"तो फ़र्माइए, क्या हुक्म है?"

"हुक्म की इंतजारी तो हम लोगों को है।"

"मैं तो कह चुका कि मैं आपका और सरकार का खादिम हूँ।"

"तो इसमें हमें कुछ शिकायत थोड़े ही है।"

"यह आपकी मिहरबानी है।"

थोड़ी देर फिर सन्नाटा रहा।

अंत में एक सज्जन ने खड़े होकर कहा—"दारोगाजी, आखिर कब तक आप यह शराफत का लिहाज रक्खेंगे। अब डिक्टेटर साहब हाजिर हैं। इन्हें गिरफ्तार करके जाब्ते की कार्य-वाही कर डालिए।"

दारोगाजी ने थोड़ा लाचारी का भाव बताकर कहा—"मुझे बहुत अफ़सोस है कि जब तक ऊपर से हुक्म न हो, मैं किसी को गिरफ्तार नहीं कर सकता।"

"तब बिना हुक्म आपने फ़ोन क्यों किया?"

"कैसा फ़ोन?"

"कि इनका वारंट है। थाने में आकर गिरफ्तार हो जायँ।"

"मैंने फ़ोन नहीं किया।"

"आपने फ़ोन नहीं किया?"

"नहीं।"

"मेरा वारंट नहीं है?"

"नहीं।"

"दर्याफ़्त कीजिए, किसी दूसरे सेंटर से फोन किया गया होगा।"

"आप तो मेरे ही हल्के में हैं। यह नामुमकिन है।"

"तब फ़ोन किसने किया?"

दारोग़ाजी मुस्कुराकर बोल उठे—"किसी मसख़रे का काम मालूम होता है।" इसके बाद वह ज़ोर से हँस पड़े।

डिक्टेटर साहब अपने साथियों-सहित बड़े लज्जित हुए। उन्होंने अपनी फूल-मालाओं पर दृष्टि डालते हुए कहा—"उस बदमाश का पता लगाना चाहिए।"

"अजी, उसे तो इनाम दीजिए। उसी की बदौलत····" दारोग़ाजी आगे की बात पी गए।

"तब मैं जा सकता हूँ?" डिक्टेटर साहब ने पूछा।

"मैं कैसे कहूँ?"

पार्टी उठकर चल दी। डिक्टेटर और पार्टी को ज्यों-का-त्यों बैरंग वापस आते देख भीड़ ने फिर गगनभेदी इन्कलाब का नारा बुलंद किया। सजी हुई मोटर में फिर आप बैठाए गए। सत्य बात को प्रकट करने की जरूरत नहीं समझी गई। जुलूस उसी शान से लौटा।

लोग कह रहे थे—"आदमी नहीं, शेर है। इस पर हाथ डालने की सरकार जुर्रत ही नहीं कर सकती।"

लौह-पुरुष

[खूब है बापू। आलू काटते जाते हैं, बिटिया को बहकाते हैं, डाढ़ियों को सहलाते हैं, तरुणों को भरमाते हैं, वृद्धाओं को खिझाते हैं। बुहारी बाँधते हैं, सबकी सुनते हैं, अपनी करते हैं, लेकिन सफेद कौवा उड़ाने में एक है ये बापू—आलू काटते···]

बापू बैठे आलू काट रहे थे। आश्रम की दो बालिकाएँ भी बैठी यही कर रही थीं। बापू बीच-बीच में कुछ कह देते थे, उसे सुन कर बालिकाएँ खिलखिलाकर हँस पड़ती थीं। धरती कच्ची थी और वह स्वच्छ गोबर से लिपी हुई थी। वहाँ चटाई भी न थी। बापू ज़मीन पर पलौथी मारे बैठे थे। मोटी बल्लियों पर फूँस का छप्पर सिर पर था। बापू की कमर में स्वच्छ खद्दर का टुकड़ा लिपटा था, जिससे उनका घुटनों तक का अंग ढका था। शेष सब अंग नग्न था। एक छोटी सी माला उनके कण्ठ में थी और मस्तक पर रोली का तिलक। उनके शरीर की हड्डी पसलियाँ प्रत्यक्ष दीख पड़ती थीं। जब वे हँसते थे तब उनके आगे के टूटे दोनों दाँत अद्भुत प्रतीत होते थे। उनकी आँखों पर एक भद्दा सा चश्मा चढ़ा था, उस चश्मे में होकर उनकी असाधारण आँखें निरन्तर चमक रही थीं। उनके

कान विचित्र और बड़े-बड़े थे, वे उनकी बालों से रहित खोपड़ी पर ऊपर से चिपकाए से प्रतीत होते थे। उनके हँसने के समय उनके मुख पर अनेक सिकुड़नें पड़ जाती थीं। वे धीरे-धीरे किन्तु जल्दी जल्दी बोलते थे। वे चौकन्ने से बैठे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उनके शरीर भर में नेत्र हैं और उनकी अबाध गति है। वे क्षितिज तक जो कुछ हो रहा है, सभी देख रहे हैं।

सुशील ने एक युवक के साथ वहीं पहुँच कर इस महा-पुरुष को प्रथम बार देखा और उसके चरणों में सिर नवाया। बापू ने मुस्कुराकर कहा—"अभी आ रहे हो क्या? जवाहर का पत्र तो मुझे मिल गया था, पर उसमें तो अपर्याप्त परिचय था, अच्छा बैठो।"

सुशील बैठ गए। वे उस महान् लौह पुरुष को प्रत्यक्ष सामने देखकर भांति भांति के विचार करने लगे। वे कुछ बोल ही न सके।

बापू कुछ देर ठहर कर हँस दिए। उन्होंने कहा—

"यहाँ क्यों आए हो?"

सुशील ने विनयपूर्ण स्वर में कहा—"मेरा इच्छा कुछ समय आश्रम में रह कर यहाँ के जीवन का अभ्यास करने की है।"

"तुम्हारी इच्छा या जवाहर की?" वे फिर खिलखिलाकर हँस पड़े।

"मैंने अपने आपको उनके सुपुर्द कर दिया है। मैं उन्हीं के आदेश से आया हूँ।"

"अब तक कहाँ थे?"

बापू ने एक भेद भरी तेज दृष्टि से सुशील की ओर देखा। सुशील कुछ उत्तर न दे सके, वे स्वयं इस प्रश्न का उत्तर अपने हृदय में नहीं पाते थे।

बापू ने फिर पूँछा—

"यहाँ के जीवन का अभ्यास करके क्या किया चाहते हो?"

"देश सेवा"

"देश सेवा?" बापू गम्भीर हो गए। उनके माथे में बल पड़ गए। होठ सिकोड़ कर उन्होंने एक आलू के चार टुकड़े कर डाले। इसके बाद उनके मुख पर फिर मुस्कुराहट आई। उन्होंने कहा—'देश सेवा किस लिए?" सुशील के पास इसका भी कोई उत्तर न था। वे चुपचाप बापू के प्रश्न का आशय समझने की चेष्टा करने लगे।

बापू ने हँसकर सुशील की ओर देखा। सुशील लजा गए। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"बापू, परीक्षा न लीजिए, मुझे मार्ग बताइए, मुझे कुछ काम दीजिए।"

बापू कुछ क्षण तक सुशील की ओर देखते रहे। उसके बाद वे चुपचाप आलू काटने लग गए।

एक गम्भीराकृति पुरुष ने प्रविष्ट होकर कहा—"बापू, पट्टनीजी आ रहे हैं। क्या यहीं ले आऊँ।"

"हाँ, हाँ, पर एक चटाई डाल दो।"

एक भव्य मूर्ति ने प्रविष्ट होकर प्रणाम किया। उसकी धवल लम्बी डाढ़ी, तीखे नेत्र, उभरी हुई नाक, सम्पुटित ओष्ठ उसके महान् व्यक्तित्व का परिचय दे रहे थे। बापू मानो अभी सुशील ही से बातें कर रहे हैं। इस परम प्रभावान् व्यक्ति से तनिक भी प्रभावित न होकर वे उसी भांति हँस दिए, कहा—

"मैं तो कल से आपके आने की प्रतीक्षा में था। कहिए, राज्य में आपने शिक्षा-विस्तार की जो नई योजना की है वह कैसी सफल हो रही है?"

पट्टनी जी ने चिन्तित स्वर में कहा—'सफल हो रही है, नहीं कह सकता। यदि मालवीय जी का हिन्दू विश्वविद्यालय सफल है तो मेरी योजना भी सफल है। किन्तु महात्मा जी, मेरा चित्त उससे सन्तुष्ट नहीं।'

महात्मा ने मुस्कुराकर पूँछा—"क्यों? चित्त सन्तुष्ट क्यों नहीं है।"

"मैं देखता हूँ कि हमारी शिक्षा की आत्मा विदेशी है। वह हमारे बाह्य जीवन पर प्रभाव डालती है, अभ्यन्तर पर नहीं। उसे प्राप्त करके हम केवल बाह्य संसार में उच्च पद प्राप्त कर सकते हैं, वैज्ञानिक अनुसन्धान कर सकते हैं, किन्तु आत्मतुष्टि नहीं प्राप्त कर सकते।"

महात्मा जोर से हँस पड़े। बालिकाएँ उसी समय उठकर चली गईं। आलुओं की टोकरी एक व्यक्ति उठा ले गया। दूसरे व्यक्ति ने चरखा उनके सामने रख दिया। बापू की उँगलियाँ चरखे पर नाचने लगीं। कुछ क्षण बाद वे बोले—"अब आप कितना बारीक सूत कात सकते हैं?" पट्टनी जी ने स्कूल के सुघड़ विद्यार्थी की भांति जेब से एक सूत की गुच्छी निकालकर हँसते हँसते कहा—'यह देखिए, यह मेरा आज ही का काता सूत है।'

एक युवक ने आकर धीरे से सूचना दी—राजगोपालाचार्य जी आ रहे हैं। दूसरे ही क्षण एक अद्भुत व्यक्ति धीरे-धीरे मानों तोलते तोलते पाँव रखते हुए आया। उसके छोटे और गृद्ध

जैसे तीव्र नेत्र, नीले रंग के चश्मे से ढँके थे। सिर और दाढ़ी मूँछ मुड़े थे। बलिष्ठ और चौड़ा जबड़ा, आगे को उठी हुई नोकदार नाक, उनकी दृढ़ता, गम्भीरता और एकनिष्ठता का परिचय दे रही थीं। उनके आते ही बापू खूब ज़ोर से खिलखिला पड़े। इसके बाद उन्होंने घड़ी की ओर देखकर कहा—'समय तो हो गया है, क्या सब लोग आ रहे हैं?"

एक सौम्य स्त्री मूर्ति ने धीरे-धीरे भीतर प्रवेश किया। उसके मुख का सौन्दर्य आश्चर्यजनक था। वह स्वच्छ खद्दर की साड़ी लपेटे थी, उसके पैर नंगे थे, शरीर पुष्ट किन्तु कोमल था। आँखें नीली और स्वच्छ थीं। उसके हाथ में एक थाल था, उसपर एक सफेद खद्दर का रूमाल पड़ा था, उसने बापू के सामने बैठकर थाल रख दिया। बापू ने मुस्कराकर कहा—"क्या इसका समय हो गया, मीरा?"

"हाँ बापू" उसने उठा-उठाकर एक-एक कटोरा बापू के हाथ में दिया। बापू ने अपना भोजन आरम्भ किया। दही, छुहारा, शहद और कुछ फल आदि थे। बापू खा रहे थे, बातें करते जाते थे। हास्य का उनकी बातों में सम्पुट था। इसी बीच बीस-पचीस व्यक्तियों ने एक बारगी ही उस छप्पर में प्रवेश किया। सरोजनी नायडू ने चिल्ला कर कहा—"यह क्या खा रहे हो बापू?" उन्होंने हँसकर कहा—"अब क्या धरा है, सब खा पी चुका।"

सभी यथास्थान बैठ गए। मीरा सामने बैठी मक्खियाँ उड़ा रही थी। बापू का भोजन समाप्त होते ही वह पात्र लेकर चली गई।

एक बारगी ही गम्भीर बातचीत आरम्भ हो गई। राज-

गोपालाचार्य ने कहा—"यही समय है कि हमें असहयोग का युद्ध छेड़ देना चाहिए। हम एक क्षण भी अब नहीं ठहर सकते।'

"किन्तु लोकमान्य तिलक अभी भी इससे सहमत नहीं। वे कठिन रोगशय्या पर हैं, उनका मत जानने के लिए कुछ ठहरना हमें अवश्य चाहिए, नहीं तो महाराष्ट्र हमारे साथ न रहेगा।" एक बलिष्ठ महाराष्ट्र व्यक्ति ने कहा। ये केलकर थे।

एक दबंग बंगाली प्रौढ़ पुरुष उठ खड़े हुए। उनके खड़े होने की ध्वज उस सिंह के समान थी जो शिकार पर आक्रमण किया चाहता है, ये देशबन्धु थे। उन्होंने कहा—"हम प्रतीक्षा नहीं कर सकते, हम लोकमान्य तिलक को सहमत कर लेंगे। हमें तत्काल आगे बढ़ना चाहिए, हम रुक नहीं सकते।"

एक वृद्ध महापुरुष उठे। ये आचार्य राय थे। उन्होंने कम्पित स्वर में कहा—"तत्काल असहयोग प्रारम्भ कर देने के मैं पक्ष में हूँ, परन्तु लोकमान्य तिलक की सहमति लेना भी आवश्यक है।"

"कुछ आवश्यक नहीं है।" सिन्ध के एक सुन्दर युवक बोले। बापू ने चरखा चलाते चलाते उन्हें देखा और हँस दिए। वे चुपचाप मनोयोग से सबका मत जान रहे थे।

एक व्यक्ति उठे। उनका शरीर चीते के समान था। उनकी ध्वनि में गर्जन था। ये पंजाब के सिंह लाजपत थे। उन्होंने कहा—"सदैव ही महान् मस्तिष्कों में मतभेद रहेगा। हमें जो सत्य है उसे प्रारम्भ कर देना चाहिए। कार्य का सही समय अब है, उसे हम फिर पर नहीं छोड़ सकते। यद्यपि मैं अभी भी इस युद्ध की नीति को ठीक-ठीक नहीं समझ सका हूँ, मेरा दिमाग चक्कर खाता है पर मैं महात्मा जी पर विश्वास करता हूँ। मैं तत्काल युद्ध प्रारम्भ करने के पक्ष में हूँ।"

भगवा परिधान धारण किए एक और विशाल मूर्ति उठी। उसकी वाणी मेघ-गर्जन की भांति गम्भीर थी। वे श्रद्धानन्द थे। उन्होंने पंजाब केसरी का समर्थन किया।

एक गुर्जर वृद्धा धीरे-धीरे भीड़ को लांघती हुई महात्मा के निकट चली आ रही थी। ज्योंही उनकी दृष्टि वृद्धा पर पड़ी, वे उठ खड़े हुए। गम्भीर राजनैतिक बातें हठात् रुक गईं। उन्होंने उसके पैर छुए, पास बैठा कर घर का हाल पूँछा। वृद्धा इस भांति बोलने लगी, मानो किसी बालक से बात कर रही हो। उसने पंखा उठाया और महात्मा को पंखा झलने लगी। महात्मा ने बाधा देकर कहा—'नहीं काकी, पंखा रहने दो।'

"क्यों रहने दूं, क्या तुम मेरे लड़के नहीं हो। तुम्हें पंखा करने से क्या हानि है।"

"यदि मैं बीमार होऊँ तो काकी मुझे पंखा झल सकती है, पर मैं तो तन्दुरुस्त हूँ। इस हालत में काकी को पंखा झलने का अधिकार नहीं।"

सब लोग हँस दिए। वृद्धा भी हँस दी। कुछ क्षण बैठ कर वह चली गई। एक सम्पन्न गुर्जर सद्गृहस्थ ने सपरिवार प्रवेश करके महात्मा को अभिवादन किया।

महात्मा ने हँस कर उनकी सात वर्षीया बालिका को अँगुली के संकेत से पास बुलाया। बालिका माता की अनुमति पाकर डरती २ बापू के पास गई। बापू ने कहा—

'तूने तो बड़े गहने पहन रक्खे हैं? भला इनसे क्या लाभ?'

बालिका चुप रही! महात्मा उसकी चूड़ियों से खेलने लगे। वाह, कैसी अच्छी चूड़ियाँ हैं। और ये कानों के बुन्दे?

उन्होंने बालिका के कान के बुन्दे छूकर कहा—"इन्हें तूने किस लिए पहन रक्खा है ?"

"मुझे माँ ने पहना दिए हैं।" बालिका ने सोच कर जवाब दिया।

"क्यों ?"

बालिका कुछ न बोली। महात्मा ने कहा—"यदि तू इन्हें मुझे दे दे तो मैं इनसे बहुत से गरीबों का भला कर सकता हूँ। दे सकती है ?"

बालिका ने दूर बैठी माता की ओर देखा और स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। महात्मा ने बुन्दे और चूड़ियाँ उतार लीं।

"तुझे बुरा तो नहीं लगा ?"

"नहीं।"

"पहना दूँ ?"

"नहीं।"

"यह तूने गरीबों के लिये दिए।"

"दिए।"

"और भी कुछ तेरे पास है ? हो तो दे दे ?"

बालिका ने घबराकर जल्दी से कहा—"और मेरे पास कुछ नहीं है ?"

सब लोग हँस दिए। बालिका उस हँसी से घबरा गई। महात्मा ने बुन्दे और चूड़ियाँ उसे देकर कहा—"अपनी माता का आज्ञा ले आ। वे कहेंगी तो ले लूँगा। बालिका ने माँ के पास से लौट कर दोनों वस्तुएँ महात्मा की गोद में डाल दीं। महात्मा ने कहा—"एक शर्त पर ले लूँगा ?"

"क्या ?"

इनकी जगह और चूड़ियाँ और बुन्दे तो न बनवाएगी।"

बालिका घबरा कर चुप हो रही। यही तो वह सोच रही थी। माता ने भी यही कहा था कि, दे दे और बनवा देंगे।

महात्मा ने कहा—"यदि और बनवाने की इच्छा हो तो इन्हें ही पहिन।"

"मैं नहीं बनवाऊँगी।"

"देखना, बुड्ढे महात्मा को ठगना नहीं।"

"नहीं।"

बालिका माता के पास भाग गई।

एक भीमकाय हाथी के समान मुसलमान सज्जन ने उठकर कहा—

"वाह बापू, आपने तो सौदा बना लिया। और हम घपले ही में पड़े हैं।"

सब लोग खिल-खिला कर हँस पड़े। ये मौलाना शौकतअली थे। उन्होंने कहा—"असहयोग करने का हमने इरादा कर लिया है। हमारे पास दूसरा चारा नहीं है। हम आपके साथ हैं। और हमारे साथ सात करोड़ मुसलमान। दुनिया की शक्ति नहीं, जो हमें रोके। हम तिलक महराज की प्रतिष्ठा करते हैं परन्तु विचार स्वातन्त्र्य हमारी सबसे बड़ी वस्तु है।"

भारत कोकिला उठीं। उन्होंने कहा—"हम तो असहयोग पहले ही से कर चुके हैं। हमारा जीवन असहयोगमय है, अब तो जनता को उसका पाठ पढ़ाना है। उसमें यदि हम ढील देंगे तो हम अकेले रह जाएँगे। और जिनके लिए हम सब कुछ कर रहे हैं, वे असहाय हो जाएँगे। हमें तत्काल अपना काम आरम्भ कर देना चाहिए।"

एक दुबले पतले मुसलमान भद्रपुरुष ने उठकर अटकते अटकते धीमी किन्तु लचकती दिल्ली की भाषा में कहा—'हम तो बापू के साथ हैं, हमने अपने विचार और हाथ पैर भी इन्हें दे दिए हैं। हम सिपाही की भाँति तैयार हैं।' ये हकीम अजमलखां मसीहुलमुल्क थे।

वह बालिका फिर बापू के सामने आ खड़ी हुई। उसने बापू से कहा—

"मैंने तुमको ठग लिया।"

"नहीं, नहीं, तुम ऐसा नहीं कर सकती।"

"मैंने तुम्हें ठग लिया।" वह जोर से हँस पड़ी।"

"नहीं बिट्टो, मैं बुड्ढा महात्मा हूँ। मुझे तुमने नहीं ठगा। तुम बहुत अच्छी हो!"

"मैंने तुम्हें ठग लिया।" वह इस बार हँस न सकी।

बापू उसकी ओर मुस्कुराकर देखने लगे। उसने जेब से ढेर के ढेर सोने-चाँदी और तांबे के सिक्के निकाल कर कहा—"यह देखो, अभी इतना माल मेरे पास और है।" वह अपराधी की भांति बापू की तरफ देखने लगी।

"तब तो सचमुच तूने मुझ महात्मा को ठग लिया बिट्टो!" बापू ने मर्मभेदनी दृष्टि उस पर फेंककर कहा। "लो" कहकर बालिका ने वे सिक्के महात्मा के आगे फैंक दिए और वह दौड़ कर अपनी माता की गोद में मुँह छिपाकर सिसक कर रोने लगी। बापू कुछ बोले नहीं। वे मानो ध्यानस्थ से हो रहे थे। वे निश्चल बैठे रहे। सभी व्यक्ति चित्र लिखित से बैठे थे।

मीरा ने एक वृद्ध पुरुष के साथ प्रवेश किया। वृद्ध के हाथ में वीणा थी, मीरा ने कहा—बापू! ये बाबा काशी से आपको

वीणा सुनाने आए हैं।' महात्मा ने चौंक कर उधर देखा। संकेत से उन्हें निकट बुलाया। फिर कुछ स्थिर स्वर में कहा—"मीरा, वहाँ से जरा उस बिटिया को तो गोद में उठा लाओ" मीरा ने बालिका को गोद में उठाकर महात्मा की गोद में ला बैठाया।

महात्मा ने बृद्ध गायक से कहा—'गाओ बाबा'

वृद्ध गायक ने बीणा के तार छेड़े, अपने कम्पित कण्ठ से स्वर मिलाया और क्षण भर में वह प्रकाण्ड राजनीतिक महाजनों की मण्डली उस मधुर संगीत के वातावरण में डूब गई।

गीत की समाप्ति पर बापू ने बालिका से कहा—"क्यों बिट्टो, अब तो तू मुझे कभी नहीं ठगेगी ?"

"नहीं !" बालिका ने डबडबाई दृष्टि से बापू को देखा। बापू ने हल्की-सी चपत उसके गाल पर जमाई। बालिका का पाश ढीला हुआ, वह भाग गई। महात्मा स्थिर होकर बैठे। उनके मुख पर नवीन तेज आया। आँखें किसी गूढ़ जगत में विचरने लगीं। उन्होंने धीरे-धीरे किन्तु स्पष्ट स्वर में कहा—

"आप सबका मत मैंने जाना। अब मेरा भी सुनिए। मैंने खूब अच्छी तरह विचार कर निर्णय कर लिया है कि यदि एक भी व्यक्ति मेरे साथ न होगा तो मैं अकेले ही इस युद्ध को छेड़ दूँगा, भले ही प्राण जाएँ। मैं आप से भी प्रार्थना करता हूँ कि केवल वे ही सज्जन इसके पक्ष में रहें, जिन्हें किसी की सम्मति की आवश्यकता न हो और जिनकी अन्तरात्मा की आवाज इसके अनुकूल हो।"

इस धीर किन्तु स्पष्ट भाषण के बाद सन्नाटा छा गया। इस बीच में एक युवक ने आकर सूचना दी कि अभी फोन पर

लौह-पुरुष

बम्बई से खबर आई है कि लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास हो गया।

यह समाचार पाते ही प्रत्येक व्यक्ति सन्न रह गया। कुछ क्षण मौन रह कर महात्मा ने घड़ी की ओर देख कर कहा—"हमें अभी चलना चाहिए।"

वे इतना कह कर उठ खड़े हुए। सभी जन उठ खड़े हुए। सुशील कठपुतली की भांति चुपचाप इस महापुरुष को यह दिनचर्या कौतुक देख रहे थे। उसके सामने समस्त भारत के प्राण केन्द्रीभूत थे। और उसके सामने ही भारत के भाग्य का निपटारा हो रहा था। उसके सम्मुख प्रबल प्रतापी ग्रेट ब्रिटेन की सत्ता के विरुद्ध युद्ध की गम्भीर तय्यारी की जा रही थी। परन्तु जो महापुरुष इन सब प्रगतियों का केन्द्र था, वह अब भी बालकों के समान हास्य और विनोद में मग्न था। वे उस महाप्राण संत पुरुष के व्यक्तित्व पर सोच ही रहे थे कि महात्मा ने उनके कन्धे पर हाथ धर कर कहा—"तुम ठहरो, मीराबहिन तुम्हारी व्यवस्था कर देंगी। मैं शीघ्र ही बम्बई से लौटूँगा तब और बातें होंगी।"

मुखबिर

[यह परंतप नरश्रेष्ठ किसी प्रेस में एक कम्पोजिटर था, अत्यन्त ग़रीब, सीधा और अपढ़। देखने में दुबला-पतला—अभद्र—असभ्य-सा। बातचीत में भीरु, जीवन में लापरवाह। दिल्ली की बम फैक्टरी के उद्घाटन का उल्लेख तो भारतीय विप्लव के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण बात है—परन्तु इस हुतात्मा को शायद किसी ने जाना भी नहीं। जिसके त्याग तप ने भय और प्रलोभनों ही को नहीं, बड़ी से बड़ी ईर्षा को भी जय कर लिया था। कहते हैं, कभी-कभी देवता मनुष्य रूप धारण करके विश्व के प्राणियों को जीवन के सुख-दुःख भोगना सिखाने आते हैं, वे प्रायः वेदनाओं की ज्वाला पर निरीह भाव से यात्रा करते हैं, संभव है, यह महापुरुष भी ऐसा ही कोई देवसत्त्व हो। लेखक को इस देवसत्त्व को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था—और इसी से इस कहानी में उसकी तपोमूर्ति का एक रेखा चित्र खींच उन्होंने अपनी लेखनी को धन्य किया—जिस पर गर्व करते मैंने उन्हें बहुत बार देखा है।]

१

एक १२ वर्ष का सुन्दर सुगठित युवक सिर्फ एक स्वच्छ खद्दर की धोती पहने घास पर घुटनों के बल औंधा पड़ा था, और उसकी पीठ पर एक गौरवर्ण सुकुमार बालक जिसकी आयु पाँच वर्ष की होगी, सवार था। बालक युवक के कान पकड़ कर

उसे घोड़ा बनाए हुए था और लात मार कर अपने घोड़े को चलाने का प्रयत्न कर रहा था। पर घोड़ा वहीं अड़ा खड़ा था।

शरद् ऋतु का सुन्दर प्रभात था, सुनहरी धूप चारों ओर फैली हुई थी। बालक और युवक दोनों मानो संसार भर के प्राणियों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रसन्न थे।

गाँव छोटा-सा था, और सामने हरे-भरे खेत लहरा रहे थे। उन्मुक्त वायु इन प्रकृत विनोदियों से सानन्द विनोद कर रही थी। धीरे-धीरे एक और दुबला-पतला युवक वहीं आ खड़ा हुआ। वह इन दोनों से कुछ दूर एक वृक्ष के नीचे खड़ा इनका खेल देखने लगा। घोड़े का अभिनय करने वाले युवक ने उसे देखा नहीं। वह ज़ोर से हँस और बदन हिला-हिला कर सवार को गिराने की चेष्टा कर रहा था। हठात् बालक का ध्यान निकट खड़े उस आगन्तुक की ओर चला गया। उसका उल्लास प्रवाह रुक गया। उसने कहा—बाबू·····।"

युवक ने आँख उठाकर देखा और चौंक उठा। फिर उसने बच्चे को धीरे से पीठ से उतार कर उसे घर चले जाने का आदेश किया और संकेत से युवक को निकट बुलाकर पूँछा—"सब ठीक है ?"

"नहीं।"

"क्या हुआ ?"

"प्रयत्न निष्फल हुआ।"

"युवक की आँखें चमकने लगी। कुछ ठहरकर उसने पूँछा—"कारण ?"

"सरदार स्वयं आपको कैफ़ियत देना चाहते हैं।"

"क्या कोई और भी सम्वाद है।"

"हाँ, पुलिस ने नम्बर चार और तीन सेन्टरों पर छापा मार कर वहाँ के सभी कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया है।"

"सरदार कहाँ है ?"

"वे चौदहवें सेंटर में परसों शाम को पौने आठ बजे आपकी प्रतीक्षा करेंगे।

"सेंटर दो में क्या हो रहा है ?"

"अपने कार्यक्रम की तैयारियाँ।"

"प्रयोग तिथि कौन-सी है ?"

"चौथी नवम्बर।"

"बाहर की क्या ख़बर है ?"

"कुछ भी नहीं।"

"सातवें सेंटर का प्रयोग कब होगा ?"

"अनिश्चित समय के लिए वह स्थगित कर दिया गया है।"

"किसकी आज्ञा से और क्यों ?"

"पुलिस बहुत ही सावधान है और साधन भी यथेष्ट उपस्थित नहीं।"

"अब तुम कहाँ जाओगे ?"

"अभी मैं आपका आदेश सरदार को दूँगा।"

"अच्छी बात है, मैं नियत समय पर सरदार से मिलूँगा।"

आगन्तुक चला गया और युवक गम्भीर भाव से वहीं घास पर बैठकर अपनी काल्पनिक दृष्टि से किसी अज्ञात भय को देखने लगा।

थोड़ी देर बाद एक और व्यक्ति आकर युवक के पास बैठ गया, उसने स्नेह भरे स्वर में पूँछा—

"वह फिर आया था क्या भैय्या ?"

युवक चौंक उठा और हँस पड़ा। दूसरे व्यक्ति ने फिर कहा—"लल्लू कहता था—वह बाबू आया है।"

"हाँ आया तो था ?"

"कुछ झगड़ा तो नहीं हुआ ?"

"कुछ नहीं, मैंने उसे समझा दिया। वह पन्द्रह दिन को मान गया है। कुछ अधिक व्याज़ का वादा करने से ही वह सन्तुष्ट हो गया।"

"पर भैय्या, यह कर्जा चुकेगा कैसे ?"

"सब चुक जायगा, तुम चिन्ता क्यों करते हो ? लल्लू खा चुका ?"

"कहाँ ? वह बिना तुम्हारे थोड़े ही खायगा।"

"बड़ा पाजी है। चलो फिर भोजन किया जाय। ओह ! भूख के मारे पेट में चूहे कूद रहे हैं।"

"दोनों घर की ओर चल दिए। युवक कनखियों से दूसरे व्यक्ति को देख रहा था और वह अत्यन्त चिन्तित भाव से नीचा सिर किए कुछ सोचता हुआ चल रहा था। हठात् उसने सिर उठाकर कहा—

"एक काम किया जाय भैय्या, वह गया किधर है ? मैं उसे दौड़ कर बुला लाता हूँ।"

"क्यों, क्या करोगे ?"

"घर में एक दो गहने हैं, उन्हें बेचकर इसका रुपया अभी दे दिया जाय।"

"इस समय तो बला टल ही गई, फिर देखा जायगा। इस वक्त चिन्ता न करो !"

"तुम क्या कुछ कम चिन्तित बैठे थे ? मैं मर जाऊँगा, पर तुम्हें और लल्लू को कभी उदास नहीं देख सकता।"

युवक ने एक बार जी भर कर अपने इस पतले दुबले मित्र की ओर देखा। बड़ी कठिनाई से उसने अपना उद्वेग और आँसू रोके, फिर थोड़ी देर बाद वह अस्वाभाविक रूप से हँस पड़ा। उसकी हँसी से वह व्यक्ति भी हँस पड़ा और पूँछा—

"इतनी ज़ोर से क्यों हँसे ?"

"तुम्हारे भोलेपन पर।"

'क्या तुम मेरी बात पसन्द नहीं करते ?"

"हरगिज़ नहीं, भाभी की चीज़ लेने का भला हमें क्या अधिकार है।"

घर निकट आ गया और बालक ने चिल्ला कर कहा—छोटे चाचा, देखो यह मेरा नया कुरता !"

"यह कहाँ पाया रे पाजी, इसे तो मैं पहनूँगा।" युवक ने बच्चे को गोद में उठा लिया। इसके बाद तीनों प्रेमी मिल कर एक साथ भोजन करने बैठे।

२

युवक का नाम और व्यवसाय बताने की आवश्यकता नहीं। उसके मित्र का नाम था हरसरनदास। इसकी आयु थी लगभग पैंतीस वर्ष। एकाध बाल पकने लगा था, शरीर का दुबला-पतला भद्दा-सा आदमी था। बच्चा इसी व्यक्ति का एक मात्र पुत्र था। बच्चे की माता हरसरनदास की दूसरी पत्नी थी, वह सुन्दरी, चुस्त और अत्यन्त विनोदी स्वभाव की स्त्री थी। युवक न इसकी जाति का था न बिरादरी का। वह एक अनाथ बालक के तौर पर इस गाँव में अल्पावस्था में आया और यहीं बड़ा हुआ था !

बीच के सात आठ वर्ष उसने दिल्ली में व्यतीत किए थे। इन सात आठ वर्षों का उसका गोपनीय इतिहास कोई नहीं जानता। लोग तरह-तरह के अन्दाज लगाया करते थे। कोई कहता था—वह कालिज तक की पढ़ाई पास कर चुका। कोई कहता वह बड़ा कारबारी हो गया है। पर युवक सिवा दस-पाँच दिनों के लिए बीच-बीच में ग़ैरहाज़िर हो जाने के अपने कारबार के संबन्ध में कुछ प्रमाण नहीं रखता था। अलबत्ता वह गाँव भर में प्रिय और आदरणीय अवश्य माना जाता था। वह सबकी सब प्रकार की सेवा करता। उसका चरित्र निर्मल और उच्च था। उसकी भाषा संयत, विनम्र और स्वभाव अत्यन्त सरल था! गाँव वाले उसे मानते, प्यार करते और आड़े वक्त उसी से सलाह मशविरा भी करते थे।

हरसरन पर उसकी योग्यता, देश भक्ति, त्याग और चरित्र का काफ़ी प्रभाव था! हरसरन के बच्चे और इस युवक का प्राण तो एक ही था। वह और उसकी स्त्री दोनों ही युवक की मानों पूजा करते थे। युवक का घर नहीं, कुटुम्ब नहीं, सगे सम्बन्धी नहीं, वह हरसरन के ही घर रहता, वहीं खाता सोता था। मानों वह उसी घर का व्यक्ति है। गरीब हरसरन तन मन से युवक के सुख-दुःख का ख्याल रखता था।

भोजन के बाद युवक ने कहा—

"देखो भाई हरसरन, आज मेरा शहर जाने का इरादा है।"

"क्यों?"

"एक नौकरी लग रही है, अब शायद वहीं रहना हो।"

"कितने की नौकरी है?"

"पचास-साठ तो मिल ही जाएँगे।"

"बस इतने ही ?"

"नौकरी आराम की भी तो है।"

"क्या सरकारी है ?"

"राम-राम ! क्या मैं सरकारी नौकरी करूँगा।"

"वही तो, फिर चलो हम भी शहर चलें, वहीं कुछ काम धन्धा देख-भाल लेंगे।"

"तुम भला वहाँ क्या धन्धा करोगे ?"

"हम तुम्हें, जरा भी कष्ट न देंगे। अपने लिए कोई काम ढूँढ़ लेंगे। क्या कोई नौकरी नहीं मिल जायगी ?"

"नहीं, ऐसा न होगा। तुम झंझट में पड़ जाओगे। तुम यहीं मौज करो, मैं बराबर आता रहूँगा।"

परन्तु हरसरनदास की पत्नी ने आकर आग्रह भरे स्वर में कहा—"वहाँ कहाँ खाओगे ? कहाँ रहोगे ? फिर लल्लू तुम्हारे बिना यहाँ कैसे रहेगा ?"

बहुत वादविवाद के बाद दूसरे दिन चारों प्राणियों ने कूच कर दिया और दिल्ली के एक मुहल्ले में साधारण-सा मकान किराए पर लेकर रहने लगे। हरसरनदास किसी कपड़े की दुकान में बीस रुपए मासिक का नौकर हो गया। यहाँ रहते इन लोगों को दो मास व्यतीत हो गए। हम नहीं कह सकते कि युवक ने कुछ वेतन लाकर हरसरन के हाथ पर धरा या नहीं। हाँ इतना हम जानते हैं कि अब भी हरसरन ही युवक को खिलाता, और अपने घर में रखता है।

३

आधी रात व्यतीत हो रही थी। चारों ओर अँधेरा छाया हुआ था, थोड़ी वर्षा हो जाने के कारण ठण्डी हवा चल रही थी।

आज युवक अभी तक नहीं आया था, बच्चा उसकी राह देखते देखते सो गया था और दोनों स्त्री पुरुष बिना खाए युवक की प्रतीक्षा कर रहे थे। इधर कई दिनों से युवक का समय पर आना नहीं हो रहा था। वह बहुत व्यस्त और चिंतित भी रहता था। हरसरन बहुत चेष्टा करने पर भी उसके हृदयगत भावों को नहीं जान सका था। पर वह इतना जरूर समझ गया था कि कुछ भारी भेद अवश्य है। मेरा यह मित्र किसी असाधारण काम में जुटा है। पर वह उस पर इतनी भक्ति रखता था कि वह बिना भेद जाने ही उसका सहायक और समर्थक बन गया।

आधी रात बीतने के बाद युवक आया। उसने धीमे स्वर से कहा—"हरसरन, भाभी को दूसरे कमरे में भेज दो। अभी कुछ दोस्त यहाँ आएँगे। एक मित्र बहुत घायल हो गया है।"

हरसरन लपक कर व्यवस्था करने लगा। क्षण भर ही में दो व्यक्ति एक अल्पवयस्क युवक को पीठ पर लादे भीतर घुस आए। यह बेहोश था, उसका एक हाथ बिल्कुल ही उड़ गया था, मुँह झुलस गया था, दूसरे दोनों आदमियों में से भी एक थोड़ा घायल था। उसके वस्त्र कालिख और खून से भरे थे। बेहोश व्यक्ति को चारपाई पर लिटा कर युवक ने हरसरन से कहा—"दरवाजा बन्द कर दो।"

इसके बाद गर्म पानी करके उन्होंने मूर्छित युवक के घावों को धोया और पट्टी बाँधी। दूसरे घायल की भी पट्टी आदि बाँधी गई। फिर उन दोनों की पोशाक भी बदल दी गई।

चारों व्यक्ति चुपचाप घायल और बेहोश युवक को घेरे बैठे थे। युवक ने हरसरन से कहा—'भाई हरसरन, अब मैं

कुछ भेद तुम पर प्रकट करूँगा। क्या तुम सुनने को तैयार हो ?"

हरसरन इसकी प्रतीक्षा ही में था। उसने कहा—"फिक्र न करो, मुझे क्या करना होगा, कहो।"

"भाई हरसरन! तुम्हारे स्त्री बच्चे हैं, इस कारण मैंने तुम्हें अलग ही रखना ठीक समझा था, पर अब तुमसे कुछ छिपाना मैं पाप समझता हूँ। परन्तु देखो, भाभी को कुछ भी न मालूम होना चाहिए। समझे ?"

"ऐसा ही होगा।"

"तब सुनो तुम अखबारों में बम, खूनखराबी, गोली, पिस्तौल और डाके आदि की घटनाएं पढ़ा ही करते हो ?"

"हाँ, हाँ। उस दिन···"

"हमी लोग वह सब करते हैं।"

"मुझे भी शक था भैय्या, मगर···"

"सुनो, मैं सबका प्रधान हूँ। देश भर में सैकड़ों हमारे सेन्टर हैं। हमने इस शैतानी अँग्रेजी राज्य सत्ता को जड़ से उखाड़ने का सारा सरंजाम जुटा लिया है, हमारे पास रुपया भी बहुत जमा है।"

"परन्तु···"

"सुनते जाओ, तुम देखते ही हो कि मैं तुम्हारी कसाले की रोटी खाता हूं और एक पैसा भी मेरे पास नहीं रहता। यह धन देश का है हमारा नहीं। इसकी एक पाई भी अपने काम में लेना हमारे लिये हराम है। यही हाल मेरे इन मित्रों का भी है। ये सभी कालिज के उच्च डिग्री प्राप्त बड़े बड़े खान्दानी रईसों के बेटे हैं। चाहते तो बड़े बड़े अफ़सर बन सकते थे, बड़े चैन से दिन काट सकते थे। पर ये अपने गुलाम देश की आजादी के लिए,

करोड़ों भूखों और नंगो के पेट भरने और आबरू की रक्षा के लिए तन मन धन दे चुके हैं। किसी ने ब्याह नहीं किया है। दुःख और मृत्यु इनके लिये कुछ नहीं है। जीवन का मोह ये त्याग चुके हैं। वेदना और प्रलोभन इनसे दूर हैं। ये महात्मा, योगी, तपस्वी देश के बालक हैं। भाभी की हठ और आग्रह से मैं बहुत अच्छा खाता पहनता हूँ। पर मेरे ये प्यारे भाई बहुधा फाके करते या कहीं मेहनत मजूरी करके पैसा मिलने पर चना चबैना खाकर पानी पी लेते हैं।"

हरसरन सक्ते की हालत में बैठा रहा। फिर उसने सिर पर से पगड़ी उतार कर युवक के पैरों पर रख दी। उसके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने हिचकियाँ लेकर कहा—"मेरा मन कहता था—तुम देवदूत हो, अब तुम देवदूतों के सरदार निकले, मैं तुम्हारे पैरों की धूल हूँ। मेरा तन मन तुम्हारे लिए है बाल बच्चेदार हूँ तो क्या, मैं प्राणों को कुछ भी नहीं समझता भैय्या, चाहे जब तुम सबके लिए मेरी चमड़ी हाजिर है, जूते बनवालो। जहाँ तुम्हारा पसीना गिरेगा, वहाँ मेरा खून गिरेगा। तुम देश के लिए और मैं तुम्हारे लिए।"

युवकों ने उसे छाती से लगा लिया। अब युवक ने कहा-"जो बीर इस समय मृत्यु-शय्या पर हैं यह एक साहसी रत्न है। यह माँ का इकलौता बेटा है, इसकी उम्र १८ वर्ष की है। हम लोग कुछ भयानक बम के प्रयोग कर रहे थे, कि एक बम फट गया और यह बीर इस दशा को प्राप्त हुआ। अब इसके प्राणों की रक्षा संभव नहीं दीखती। किसी डाक्टर को भी तो हम नहीं बुला सकते।"

"क्या करना चाहिए यह बताओ ?" हरसरन ने बेसब्री से कहा।

इतने में ही मूर्छित युवक ने ज़ोर २ से साँस लेना शुरू की। एक युवक बोला—"अब कुछ नहीं हो सकता भाइओं, हमारा यह वीर साथी जा रहा है, देखो हुचकियाँ आने लगीं।" वह युवक घुटनों के बल बैठ कर रोगी की पट्टी पर सिर रख बालक की भांति फूट फूट कर रोने लगा। सभी के नेत्र भीगे थे। इधर घड़ी ने तीन बजाए और उधर युवक का प्राण पखेरू उड़ गया !!!

एक युवक ने कहा—"सरदार, अब रोने से क्या होगा ? अभी तीन बजा है,अभी बहुत काम करना है। साहस कीजिए।"

"अब क्या करना होगा ?"—हरसरन ने कहा।

"पहली बात लाश को हटाना है, दाह क्रिया तो सम्भव ही नहीं।"

"तब बहा दिया जाय ?"

"यही होगा, पर जमुना जी तक लाश जायगी कैसे ?"

"लाश को बक्स में बन्द करना होगा।"

"इस समय बक्स लेकर जाना भी निरापद नहीं।"

हरसरन बोला—"यह काम दिन में होगा और वह मैं कर लूँगा। दिन में कोई भी न देख पाएगा। आप लोग अब सुरक्षित स्थानों में चले जायँ।"

"अब और सुरक्षित स्थान इस समय नहीं है। कल संध्या तक हमें यहीं रहना होगा। मेरे इन मित्रों को संध्या की मीटिंग में भाषण देना है।"

"आज तो सभाबन्दी है, भाषण कैसे होगा ?"

"सभा अवश्य होगी और गोलियाँ भी अवश्य चलेंगी।"

"तुम्हें एक काम करना होगा, हरसरन भाई।"

"कहो।"

"सुबह ही भाभी को कुछ दिन के लिए मायके भेजना होगा।"

"यह हो जायगा। उसके साथ असबाब में मैं लाश को भी अनायास ही ले जाऊँगा।"

"आज और कल दिन भर हम यहीं रहेंगे। कोई गैर आदमी न आने पाएगा, हमारे साथ बहुत-सा सामान भी होगा।"

"मैं उस कमरे को खाली किए देता हूँ।"

इसके बाद लाश की उपयुक्त व्यवस्था की गई और ६ बजते-बजते तीनों युवक घर से बाहर निकले। इसके आधे घण्टे बाद ही हरसरन एक बड़ा सा ट्रंक और कुछ सामान तांगे पर लाद स्त्री और पुत्र सहित एक ओर को चल दिया।

४

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"हरसरन दास।"

"इसी मकान में रहते हो?"

"जी हाँ।"

"क्या काम करते हो?"

"एक फ़र्म में नौकर हूँ!"

"तुम्हारे साथ और कौन है?"

"मैं अकेला हूँ। मेरी स्त्री अपने पिता के घर गई है।"

"मुझे तुमसे कुछ बातें करनी हैं।।'

"कहिए?"

"तुम्हारे वे दोस्त कहाँ हैं जो तुम्हारे साथ रहते हैं, अजी वही गोरे २ बाबू। असल बात यह है कि मैं तुम्हारे उन दोस्त का सहपाठी हूँ। वे और मैं लाहौर में डी० ए० बी० कालेज में एक साथ पढ़े हैं। मैं दिल्ली आया था, सोचा—मिलता चलूँ।"

हरसरन को विश्वास नहीं हुआ। उसने अन्यमनस्क होकर कहा—"मुझे कुछ भी मालूम नहीं वे कहाँ हैं।"

"यह तो बड़े ताज्जुब की बात है, क्या उनके जल्दी लौटने की उम्मीद भी नहीं है?"

"नहीं" इतना कह कर हरसरनदास उठ खड़ा हुआ। उसने कहा—"मुझे अब काम पर जाना है।"

आगन्तुक ने सर्प के समान दृष्टि से उसे घूर कर कहा—"तुम्हारे दोस्त किस कोठरी में रहते हैं? उसे मेरे लिये खोल दो, तो मैं उनके आने तक उनकी प्रतीक्षा में ठहर जाऊँ।"

"मेरे पास चाभी नहीं है।"

"मगर उनकी कोठरी कौन-सी है?"

"यहाँ उनकी कोई कोठरी नहीं है।"

"वे यहीं तो रहते हैं?"

"यहाँ वे नहीं रहते।"

"तब कहाँ रहते हैं?"

"मैं नहीं जानता। अब आप जाइए, मुझे देर हो रही है।"

आगन्तुक ने हँस कर कहा—"तब तुम मुझे पहचान गए दोस्त। क्यों?"

"आप कोई हों, मुझे इससे क्या सरोकार है।"

"खैर! जब जान ही गए हो तो यह बात मैं नहीं छिपा

सकता कि मैं घर की तलाशी लूँगा। मकान चारो तरफ से घेरा हुआ है, गड़बड़ न करना। मैं तुम्हें भी बादशाह के खिलाफ़ साज़िश करने वालों में गिरफ्तार करता हूँ।"

आगन्तुक ने जेब से हथकड़ियाँ और सीटी निकाली। सीटी बजाई, और एक क़दम आगे बढ़ कर हरसरन के हाथों में हथकड़ी डाल दी।

हरसरन ने कहा—"बुरा हो तुम्हारा।"

आगन्तुक ने अपनी रोबदार घनी काली डाढ़ी में से चमचमाते दाँत निकाल कर हँस दिया और हथकड़ी की चाभी घुमाते हुए बोला—"अब जिसका बुरा-भला होना होगा, हो जायगा।" इसी समय चार कान्स्टेबिल और पुलिस के एक इंसपेक्टर कमरे में घुस आए। हरसरन को एक कान्स्टेबिल के सुपुर्द करके आगन्तुक ने इंस्पेक्टर से कहा—"दो चार भले आदमियों को बुलालो, मकान की तलाशी ली जायगी।"

हरसरन ने चिल्ला कर कहा—"बुरा हो तुम्हारा।"

शीघ्र ही दस, बीस, पचास आदमियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। तरह-तरह की बातें और तरह-तरह की भावभंगियाँ होने लगीं। हरसरन हथकड़ियों से जकड़ा हुआ चुपचाप खड़ा था। किसी भी प्रश्न के पूँछे जाने पर वह भरपूर वेग से चिल्लाकर कहता था—"बुरा हो तुम्हारा।"

तलाशी में बहुत से तेजाब, बम बनाने के खोल, बहुत से कील पुर्जे, तार, बेटरियाँ और धातुओं के टुकड़े बरामद हुए। हरसरन से अधिक उत्तर पाने से निराश होकर पुलिस उसे लेकर दल-बल सहित थाने को चली गई। उस दिन के अखबारों

में बम फैक्टरी के भेद उद्घाटन की बड़ी लम्बी चौड़ी भूमिकाएँ छपी।

५

पुलिस की हिरासत में हरसरनदास निर्विकल्प बीज रूप पड़ा था। पुलिस के अफसर आकर नर्मी से पूँछते—"क्या तुम्हें किसी चीज़ की जरूरत है? तुम अपना बिस्तरा मँगा सकते हो, किसी से मिलना चाहो तो मिल सकते हो, पत्र लिखना चाहो तो वह भी कर सकते हो।"

छोटे अफ़सर आकर उसके पास बैठ जाते, पूँछते—"कहो अब तुम्हारे वे बदमाश दोस्त कहां हैं? जिन्होंने तुम जैसे सीधे सादे ग़रीब आदमी को फँसाया। हम जानते हैं कि तुम बेकसूर हो, पर भाई तुम इसका सुराग़ दो, सांस गांस बताओ तो कुछ पता चले। हमारा काम अपराधियों को पकड़ना है, भले मानसों को सताना नहीं। देखो भाई, पुलिस को लोग नाहक बदनाम करते हैं कि आसामियों को सतातीं है। क्या तुम्हें कुछ तकलीफ दी? तुम चाहे जिससे मिलो, पत्र लिखो, खाओ, पिओ, अपने कपड़े मँगाओ, तुम्हें छुट्टी है।"

ये सारी बातें हरसरन मानो पत्थर की मूर्ति की भांति सुनता हुआ जड़वत् बैठा रहता और एकाएक गर्ज कर कहता—"बुरा हो तुम्हारा।" बड़े साहब और छोटे साहब भी यही जबाब पाते। डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट और खान बहादुर को भी यही जबाब था। जमादार, इन्सपेक्टर, सिपाही सभी को केवल यही जबाब था, "बुरा हो तुम्हारा।"

इस जड़ भरत से कुछ मतलब हल होगा, इसकी आशा पुलिस में किसी को भी न रही। बारबार 'रिमाण्ड' लिया गया,

अन्त में पुलिस अपनी असलियत पर आई। एक दिन दो भीमकाय कांस्टेबिल हवालात में घुस आए। हरसरन दीवार की ओर मुँह किए पड़ा था। कांस्टेबिलों ने पुकार कर कहा—

"क्यों दोस्त, सोते हो या जागते हो ?"

हरसरन ने बिना विलम्ब बिना हिले डुले कहा—"बुरा हो तुम्हारा।"

"अरे यार, सिगरेट बीड़ी पीओ, लो।"

हरसरन का वही जवाब था। अब एक ने जोर से ठोकर लगा कर कहा—"साले, बुरा तेरा होगा, फाँसी पर जब चढ़ेगा, खड़ा हो।" दूसरे कांस्टेबिल ने उसकी गर्दन पकड़ कर अनायास ही उसे उठा लिया और कहा—"किसका बुरा हो ? सीधा बैठ और जवाब दे कि यार लोग कहाँ कहाँ हैं और कौन कौन हैं ?"

हरसरन चुपचाप बैठ गया। दोनों कांस्टेबिलों ने उसे भरपूर मार दी। इस बार उसने अपना वह 'पेटेण्ट' शब्द भी उच्चारण करना त्याग दिया। वह चुपचाप निर्जीव माँस के लोथड़े की भांति तमाम मार चुपचाप सह गया। इसके बाद उसके दोनों हाथ चारपाई के नीचे दबा कर दोनों कांस्टेबिल उस पर बैठ गए और भांति भांति के प्रश्न पूँछने लगे। वेदना से उसकी आँखें निकलने लगीं, प्यास से कण्ठ लटपटा गया। धीरे धीरे सारा दिन व्यतीत हो गया। भूख, प्यास, नींद, और वेदना सभी ने उसके साधारण क्षुद्र शरीर पर पूर्ण वेग से आक्रमण किया। पर क्या शंकर की आत्मा उस पर अवतीर्ण हुई, या कोई पिशाच उसे सिद्ध था, वह निर्लेप निर्विकार उस वेदना को बिना एक बार उफ़ किए सहन कर रहा था। जब नींद के झोंके

आते, वे दोनों राक्षस उसके कान या गर्दन पकड़ कर झकझोर डालते, उसके नाखूनों में पिन चुभोते, उसके मलद्वार में लकड़ियाँ ठूँसते, और साधारण मार की तो चर्चा करने की आवश्यकता ही नहीं।

एक रात भी बीती और एक दिन भी। कांस्टेबिल बदलते गए। जो आते वे सोडा चाय बर्फ मिठाई उड़ाते और अट्टहास के साथ उसका उपहास करते।

अन्ततः पुलिस हार गई। उसे जो कुछ भी प्रमाण मिल सके, उन्हें ही लेकर केस का चालान कर दिया। इक्कीस दिन तक भयानक यन्त्रणा और पीड़ा को भोग कर उस रौरव नरक के समान हवालात से वह अर्द्धमूर्छितावस्था में बाहर निकाला गया। उसका शरीर गिरा पड़ता था, पर उसे पकड़ कर मोटर लारी में बैठाया गया और वह जिला मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया। मार से उसका होंठ सूज गया था और आँख के पास घाव हो गया था। छाती और पीठ पर मार के अनगिनत निशान और सूजन थी। दो कांस्टेबिलों ने उसे घसीट कर मजिस्ट्रेट के सामने खड़ा किया।

मजिस्ट्रेट ने पूछा—"तुम्हारा नाम ?"

"....."

"अरे, तुम्हारा नाम क्या है ?"

"....."

"क्या यह गूँगा है या बीमार है ?" मजिस्ट्रेट ने कोर्ट इन्सपेक्टर से पूँछा।

"हुजूर, यह पूरा मक्कार और मगरा है।"

मजिस्ट्रेट ने उससे फिर पूँछा—

"तुम्हें कुछ कहना है, कुछ शिकायत है ?"

हरसरन ने एक बार मजिस्ट्रेट की ओर सिर उठा कर देखा और चिल्ला कर कहा—"बुरा हो तुम्हारा।"

मजिस्ट्रेट ने गंभीरता पूर्वक कुछ लिखा और उसे जेल में भेज देने की आज्ञा प्रदान की। हरसरन एक नरक से दूसरे नर्क में गया।

६

"टिक, टिक, टिक !"

"टिक, टिक, टिक !"

हरसरन ने काल कोठरी में पड़े पड़े सुना—बगल की किसी कोठरी से शब्द आ रहा है।

"टिक, टिक, टिक !"

"टिक, टिक, टिक !"

वह उठकर बैठ गया। काल कोठरी में बन्द हुए उसे आज सातवाँ दिन था, इस बीच में उसे दिन भर में केवल एक बार मनुष्य की सूरत देखने को मिलती है, जब वह शौचादि के लिए बीस मिनट के लिए कोठरी से बाहर निकाला जाता है। पर मनुष्य का कण्ठ स्वर उसने सुना ही नहीं। वह शब्द ध्यान से सुनकर हरसरन ने भी उँगली से ठोका—

"टिक, टिक, टिक !"

उधर से आवाज़ आई—"क्या तुम भी कोई दुखिया कैदी हो ?"

हरसरन के मुख पर उसके स्वाभाविक शब्द आए, होठ फड़के, पर उन्हें रोक कर उसने कहा—"हाँ, और तुम ?"

"मैं भी, मुझे खड़ी बेड़ी दी गई हैं। क्या तुम किसी राजनैतिक मामले में हो ?"

"हाँ, और तुम ?"

"मैं भी, तुम्हारा नम्बर !"

"तीस, और तुम्हारा ?"

"अट्ठारह, क्या तुम्हें बाहर का कुछ समाचार मिलता है ?"

"नहीं, और तुम्हें ?"

"मुझे मिलता है, मैंने चालाकी से काम लिया है, तुम कब से इस कोठरी में हो ?"

"नौ दिनसे, और तुम ?"

"मुझे चौथा दिन है। चुप, कोई आता है।"

"तुम्हारा भला हो।"

हरसरन चुप हो गया।

आधी रात बीत गई। जेल में सन्नाटा था, हरसरन मच्छरों और जुओं एवं सील और दुर्गन्ध से तंग हो कर छटपटा रहा था। शब्द हुआ—

"टिक, टिक, टिक !"

"तुम्हारा नम्बर ?"

"अट्ठारह और तुम्हारा ?"

"तीस, क्या अभी तक जागते हो ?"

"हाँ, कोई नई खबर है ?"

"मुझे तुम्हारा नाम मालूम हो गया है, क्या तुम्हें पीटा भी जा रहा है ?"

"हाँ !"

"कल जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट जेल का मुआयना करेंगे, उनसे शिकायत करना।"

"शिकायत करना मैं अपमान समझता हूँ!"

"फिर चुपचाप कब तक सहोगे?"

"जब तक वे कष्ट देंगे।"

"एक और खबर है।"

"क्या?"

"तुम्हारी स्त्री आई है!"

"एं? कब?"

"कल। वह तुम्हें जमानत पर छुड़ाने की चिन्ता में है।"

"सच?"

"हाँ, सुनो?"

"कहो?"

"मुलाकात करोगे?"

"किससे?"

"अपनी स्त्री से।"

"कैसे होगी?"

"मैं करा दूंगा।"

"तुम?"

"अफसर जेल को मैंने चाँदी के टुकड़ों से बश में कर लिया है।

"छी; ऐसे थे तो जेल क्यों आए?"

"सब लोग तुम्हारी तरह लोहे के कैसे बनेंगे दोस्त?"

"मैं मुलाकात नहीं करूँगा।"

"सुनो।"

"कहो।"

"कल शिकायत जरूर करना।"

"हरगिज़ नहीं।"

इसके बाद हरसरन ने कहा—"सुनो"

उधर से जबाब नहीं आया। हरसरन ने संकेत किया—'टिक्-टिक् टिक्। उसका भी उत्तर नहीं आया। वह चुपचाप आकर फिर कम्बल पर पड़ गया।"

दिन निकल आया। जेल वार्डर गश्त लगा कर चला गया।

'टिक् टिक् टिक्!"

हरसरन ने दौड़ कर शब्द किया—"टिक् टिक् टिक्"

"अट्ठारह!"

"हाँ, क्या तीस?"

"हाँ,"

"क्या तुम्हें कोई नई सूचना मिली है?"

"नहीं, तुमने कुछ सुना है?"

"बहुत कुछ, मगर साहस न खोना।"

"कहो, मैं सुनने को तैयार हूँ।"

"तुम्हारी स्त्री ने सब बता दिया है।'

"क्या ???"

"उत्तेजित न हो—क्या तुम उस भेद को नहीं जानते?"

"कौन सा भेद?"

"मैं उस भेद की बात नहीं कहता जिस मामले में हम यहाँ आए हैं।"

"किस भेद की बात कहते हो? बोलते क्यों नहीं?"

"तुम्हारी स्त्री और दोस्त के गुप्त प्रेम का भेद।"

"दुष्ट, कुत्ता !"

"गाली बकने से क्या होगा ? बहुत सी बातें मालूम हुई हैं"

"कौन बातें ?"

"एक तुम्हारे बच्चे की बात।"

"उसकी क्या बात मालूम हुई।"

"उसे तुम्हारा दोस्त क्यों इतना प्यार करता है, जानते हो ?'

"क्यों नहीं, वह उसे अपने बच्चे के समान ही समझता है।"

"समझता नहीं, वह उसी का बच्चा है।"

"झूठा, बेईमान, पाजी ! दूर हो। मैं तुझसे बात न करूँगा"

"फिर सब बातें कैसे जानोगे, मैंने कहा था आपे से बाहर न होना।"

"तुम धूर्त, झूठे और बेईमान हो।"

"क्या सबूत देखोगे ?"

"तुम्हारा बुरा हो। दूर हो तुम"

हरसरन दीवार के पास से हट आया। कई बार खट खट हुई, पर व्यर्थ। हरसरन ने फिर उधर ध्यान नहीं दिया। उसके बदन में आग सी लग गई। हे ईश्वर ! क्या यह सच है ? वह सीधा सादा युवक, तेज और त्याग का मूर्तिमान् अवतार, पवित्र जीवन और तपस्या की मूर्ति, क्या ऐसा कुकर्म करेगा ? मैंने अपनी जायदाद मिट्टी में मिलाई, घर द्वार छोड़ा, उसके लिये अधम नौकरी की, इसलिए कि मैं उसके त्याग पर—देश-प्रेम पर मोहित हूँ। वह देवदूत की भांति बोलता है। स्वर्गीय प्रभा उसके नेत्रों में है। मैं मूर्ख क्या उसके लिये इतना भी न करता। वह देश की सेवा में संलग्न है, मैंने अपने को उसकी

सेवा में संलग्न किया। वह देश के लिए सर्वस्व त्याग चुका था और मैंने उसके लिये सर्वस्व त्यागा। सो क्या इसी लिए? नहीं, नहीं, ऐसी बातें सोचना भी पाप है। सर्प देवता हो सकता है पर देवता सर्प नहीं हो सकता। उसका पुत्र? राम राम, क्या मेरी स्त्री व्यभिचारिणी है? व्यभिचारिणी की आँखें ऐसी होती हैं? व्यभिचारिणी क्या इस तरह हँसा करती हैं? ऐसी तत्पर और निःसंकोच होती हैं? हे ईश्वर! मैं क्या सोच रहा हूँ। आज मैंने समझा कि मेरी आत्मा कितनी पापी है। हाँ, यह हो सकता है कि वह मुझसे हज़ार गुना अधिक उसे प्यार करती हो। परन्तु वह इस योग्य है। पर वह प्यार क्या अपवित्र ही हो सकता है? उसका पुत्र? उसका पुत्र?? हरसरन ने अपने सिर में पाँच-सात घूँसे मारे। उसने कपड़े फाड़ डाले और वह भूमि पर लोटने और तड़फने लगा। इसके बाद वह दीवार के पास गया। टिक्-टिक्-टिक् शब्द किया। एक बार, दो बार, तीन बार, पर कुछ भी उत्तर नहीं आया। वह तड़पती हुई मछली की भांति भूमि में पड़ा बिलखता रहा। उसने आघातों से शरीर को क्षत विक्षत कर लिया। इसी भांति मर्मवेदना में उसकी रात्रि व्यतीत हुई। दिन आया और गया। खाना-पीना भी उसने छोड़ दिया। वह सैकड़ों बार दीवार के पास गया, टिक्-टिक् किया, पर कुछ भी उत्तर न प्राप्त हुआ। अब वह दीवार से सिर टकराने और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा। तीन दिन बीत गए। हरसरन चुपचाप धरती पर पड़ा था—शब्द हुआ "टिक्-टिक्-टिक्।"

भूखा प्यासा अधमरा हरसरन सिंह की भाँति झपटा। उसने तनिक उत्तेजित स्वर से कहा—

"तुम हो १८ नम्बर?

"हाँ !"

"ईश्वर का धन्यवाद है तुम यहीं हो। क्या तुम्हें भी कोई सज़ा मिली ?"

नहीं, तुम कहाँ थे ?"

"खड़ी बेड़ी पर लटका दिया गया था।"

"क्यों ?"

"तुमसे बातें करने और खबर मँगाने के अपराध में।"

"पर तुम झूँठे हो।

"अभागे भाई, मालूम होता है तुम्हारा दिमाग़ खराब हो गया है !"

"तब सबूत दो।"

"सबूत पीछे लेना, पहले नई खबर सुनलो।"

"नई खबर क्या है ?"

"वे दोनों आज रात पकड़े गए हैं।"

"कौन दोनों ?"

"तुम्हारी स्त्री और मित्र"

"फिर वही बात ? दुष्ट !"

"वे दोनों रात को एक ही कमरे में थे !"

"तुम्हारा नाश हो, तुम ग़ारतहो जाओ।"

"तुम्हारी स्त्री ने पुलिस को संकेत करके बुला लिया।"

"झूठे, बेईमान।"

"वह पुलिस से मिल गई है। पुलिस ने उसे बड़ी रक़म दी है।"

"नीच, पाजी, चुप रह।"

"अभागे भाई ! शोक है तुम्हारा दिमाग ख़राब हो गया है। तुम्हें बड़ी मर्मवेदना हो रही है।"

"सूअर, मैं तुझे देखते ही जान से मार डालूँगा"

"कुछ चाहते हो ?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ माँगना चाहते हो ?"

"कुछ नहीं।"

"अब शायद हमारी मुलाकात नहीं होगी।

"क्यों ?"

"मैं आज ही रात को दूसरी जगह भेज दिया जाऊँगा, ऐसा प्रतीत होता है।"

और सबूत ?"

"सबूत देखना चाहते हो ?"

"नहीं, कदापि नहीं, जाओ, मुलाकात की कुछ ज़रूरत नहीं है।"

हरसरन वहाँ से हट आया। दो तीन बार टिक्-टिक् शब्द हुआ। हरसरन ने वहाँ कान नहीं दिया। वह दोनों हाथों पर सिर रख कर औंधे मुँह पड़ा रहा। वह कुछ सोच रहा था। उसके मस्तिष्क में सारे शरीर का खून इकट्ठा हो गया था। वह मानो जेल की छत, आकाश, स्वर्ग, सूर्य मंडल, ब्रह्माण्ड सभी को भेदन करके ऊँचा और ऊँचा उड़ा चला जा रहा था। दिन निकल आया। पर हरसरन उसी दशा में पड़ा रहा। उसके कपड़े फट गए थे और शरीर क्षत विक्षत हो गया था। उसने तीन दिन से कुछ खाया न था।

वह दिन भर योंही पड़ा रहा। बीच में डाक्टर और जेल

के अधिकारी उसे देखने आए। वह किसी से कुछ नहीं बोला। धीरे-धीरे रात हुई और वह क्रमशः गम्भीर होती गई। फिर ध्वनि आई—"टिक् टिक् टिक्"

हरसरन झपट कर वहाँ पहुँचा।

'तुम झूँठे, लवार, दुष्ट।"

आह, क्या तुम्हारा सिर बिल्कुल फिर गया है, शान्त हो भाई. बहुत बुरी ख़बर है, क्या तुम्हें देखने डाक्टर नहीं आया?"

"कौन सी ख़बर है, कहो, कहो!"

"वह कहने योग्य नहीं।"

"कह, अरे दुष्ट! कह।"

'मैं तुम्हारी गालियों का बुरा नहीं मानूँगा। ईश्वर तुम्हें शान्ति दे, क्या तुम उस ख़बर को सुन सकते हो।"

"कह, अरे पाजी ' कह।"

"उसने स्वीकार कर लिया!"

"किसने?"

"तुम्हारे मित्र ने।"

"क्या?"

"कि वह तुम्हारी पत्नी का जार है, और वह उसकी रखेली है।"

"उसका नाश हो, अब चुप रहो।"

"सुनो, एक बात कहता हूँ।"

"कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है, भागो यहाँ से।"

"सुनो भाई, मैंने एक निश्चय किया है,। अब मैं नहीं सहन कर सकता, मैं अभी चला जाऊँगा। फिर अब मुलाक़ात नहीं होगी।"

"जाओ जहन्नुम में। तुमने क्या निश्चय किया है ?"

"वही तुम भी करो। विश्वासघाती को मज़ा चखादो।"

"क्या ? क्या ??"

"मुखबिर हो जाओ।"

"हरामी, विश्वासघाती, दूर हो।"

"तब फाँसी पाओ। जिसने तुम्हारे जैसे विश्वासी मित्र की स्त्री को बिगाड़ा, धोखा दिया। उसे, तुम्हारी जगह मैं होता तो अवश्य फाँसी पर लटकवाता।"

"अरे मूँठे, दूर हो।"

हरसरन वहाँ से लौट आया। कुछ ही देर बाद उसने शब्द किया—"टिक् टिक् टिक्।" कोई भी उत्तर नहीं आया। अब वह बड़ी तेजी से उस छोटी सी दुर्गन्धित कोठरी में चक्कर काटने लगा। उसकी आँखें फटी पड़ती थीं। मुट्ठियाँ बंद थीं और वह दाँत मिसमिसा रहा था। वह ज़ोर २ से पैर पटकता फिरता था। एक बार गत दस वर्ष का जीवन चित्रपट की भाँति उसकी आँखों के सामने फिर गया। कैसे उसका विवाह हुआ था, कैसे उसने अपने मित्र से अपनी पत्नी की भेंट कराई थी; वे दोनों कितना शीघ्र घुल मिल गए, वे घण्टों बैठे गप्पें लड़ाते थे। मैं काम पर जाता, वे दोनों घर रहते। क्या यह सम्भव हो सकता है कि दोनों में बुरा सम्बन्ध हो ? फिर जब बच्चा हुआ तो वह कहा करती थी कि इसकी सूरत तुम्हारी जैसी नहीं तुम्हारे मित्र के जैसी है। क्यों ? बच्चे ?? क्यों ??? हाय यह मैंने कभी नहीं सोचा, सदा हँस कर टाल दिया। आज अब इसे समझ कर ही रहूँगा। उसकी सूरत उसके समान क्यों है ? और वह क्यों यह बात बार बार कहा करती थी। और क्यों वह

उसे सदा इतना प्यार करता था ?? ठहरो, मैं अभी इसका मूल कारण समझ लूँगा। इतना कह कर वह जोर २ से सिर में और छाती में घूँसे मारने लगा। इसके बाद उसने दीवार में टक्करें मारनी शुरू की और फिर वह बेहोश होकर गिर पड़ा।

होश में आने पर वह कुछ क्षण चुपचाप पड़ा रहा। फिर उठकर बेचैनी और घबराहट में टहलने लगा। अब वह बड़-बड़ा रहा था—मैं उसे मार डालूँगा और उसे भी। मैं सभी को मार डालूँगा। विश्वासघाती, वंचक, चोर !!! इस बार उसने बड़े वेग से अपने शरीर को चोर कर कई घाव कर लिए। अब वह दीवार के पास जाकर टिक् टिक् टिक् शब्द करने लगा। पर उत्तर न मिला। इसके बाद वह दीवार पर मुख रख कर जोर २ से चिल्लाने और दीवार पर घूँसे मारने लगा। वार्डर और जेल अधिकारियों के बहुत चेष्टा करने पर भी उसके भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। दिन समाप्त हुआ और रात्रि आई। वह उसी भाँति दीवार में घूंसे मारता और चिल्लाता रहा। वह बारम्बार तीस को गालियाँ देने लगा।

रात ज्यों-ज्यों ढलने लगी, वह शिथिल होता गया। अन्त में वह बेहोश होकर गिर पड़ा। इस बार वह खूब सोया।

धूप चढ़ गई। दोपहर हो गया। हरसरन उठ कर बैठ गया। कुछ देर वह सोचता रहा। इस समय वह बहुत सौम्य, स्थिर और गम्भीर था। उसने एक बार बहुत सापेक्ष दृष्टि से चारों ओर देखा। फिर वह बड़ी देर तक उस दीवार की ओर देखता रहा। एक बार वह उठ कर दीवार की ओर चला भी। पर बीच ही से लौट आया। इस बार उसने वार्डर को पुकार कर कहा—

"अभी इसी वक्त बड़े साहब के पास मुझे ले चलो। मैं मुख़बिर होऊँगा।"

जेल में हलचल मच गई। फ़ोन पर फ़ोन खड़कने लगे। अधिकारी वर्दियाँ कसने लगे। वार्डर और सिपाही चुस्ती से नाकों पर खड़े हो गए। तमाम कैदियों को अपने-अपने बारक में बन्द होने का हुक्म दे दिया गया। रास्तों और दर्वाजों की सफ़ाई की जाने लगी। कुछ ही देर में पुलिस के उच्चाधिकारी, मजिस्ट्रेट और जेल सुपरिन्टेंडेन्ट की मोटरें जेल के फाटक पर आ लगीं। भूखा, नंगा, पागल और सर्वांग में क्षत् विक्षत हरसरन बाहर निकाला गया। वह चल नहीं सकता था। दो सिपाही उसे सहारा देकर लाए। आफ़िस में आकर वह गिर गया। उसे होश में लाया गया। डाक्टर ने कुछ शक्तिवर्धक दवा दी। जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उसे कुर्सी पर बैठाया। धीरे-धीरे होश में आकर उसने चारों ओर देखा। वह कुछ बड़बड़ा रहा था। मजिस्ट्रेट ने पूँछा—"क्या तुम सरकारी गवाह बन कर शाही क्षमा चाहते हो?"

'मैं मुख़बिर बना चाहता हूँ! मुख़बिर।"

"क्या तुम बयान दे सकते हो?"

"तुम लोग क्या चाहते हो?"

"हम लोग तुम्हारा बयान लेना चाहते हैं।"

"क्या तुम उसे फाँसी दे दोगे?"

"यह बात तो कानून के हाथ में है।"

"उसे फाँसी दे दो।"

"तुम जो कुछ जानते हो, सब सच २ बयान कर दो।"

"मुझे क्या मिलेगा?"

"क्षमा, तुम्हें क्षमा कर दिया जायगा।"

हरसरन के होठों पर हँसी आई। उसने कहा—"मेरे पास एक सबूत है, उससे सब काम सिद्ध हो जाएँगे। मुझे घर ले चलो। मैं तुम्हें एक ऐसी चीज़ दिखाऊँगा जो कभी किसी ने न देखी होगी।"

अधिकारी गण ने परामर्श किया। पुलिस का दल तय्यार किया गया। सभी उच्चाधिकारी साथ चले। मोहल्ले में सन्नाटा छा गया। लोग भीत चकित दृष्टि से इस प्रबल दल को देखने लगे। घर में ताला लगा था। उसे तोड़ डाला गया। घर के भीतर जाकर हरसरन पागल की भांति जल्दी-जल्दी घर में घूमने लगा। एक बार वह पलंग के ऊपर लेट कर हँसने लगा। दूसरी बार उसने आलमारी की दराज़ खोल कर उसमें से एक बढ़िया कोट निकाल कर पहन लिया, पर तत्काल ही उसे फेंक दिया।

अधिकारी सतर्क होकर उसकी चेष्टा देख रहे थे। पर किसी ने भी उसकी चेष्टा में कोई बाधा नहीं दी। वह इधर-उधर घूम-घूम कर हँसता, कभी बड़बड़ाता, और कभी इधर की चीजें उधर फेंकता रहा। इसके बाद वह अपनी पत्नी और पुत्र की तस्वीर के सामने जा खड़ा हुआ। इस बार वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसने तस्वीर को छाती से लगा लिया। वह बहुत रोया।

अन्त में एक अधिकारी ने कहा—"जिस काम के लिए आए हो, उसका भी तो ख्याल रखो। वह सबूत?"

"हाँ, वह सबूत!" उसने तस्वीर दूर फेंक दी और वक्र दृष्टि से बड़ी देर तक अधिकारी को घूरता और बड़बड़ाता रहा। फिर उसने कहा—"अच्छी बात है, तब तुम उसे फाँसी दोगे?

अब मैं तुम्हें ऐसा सबूत देता हूँ जो किसी ने नहीं दिया होगा। मैं अब मुख़बिर हूँ।"

इसके बाद उसने एक आलमारी का ताला तोड़ डाला और उसमें से एक छोटी-सी सन्दूकची निकाली। अधिकारी सतर्क हो गए। क्या आश्चर्य है, पिस्तौल या बम से हमला कर दे। बक्स को तोड़ कर हरसरन ने एक छोटी-सी शीशी निकाली और उसे अधिकारियों को दिखाते हुए कहा—

"यह बड़ा भारी सबूत है। मैं अभी तुम्हें दिखा दूँगा कि इसमें क्या करामात है। तुम लोग अपनी-अपनी जगह पर खड़े रहो। इतना कह कर देखते ही देखते उसने शीशी को मुँह में उंडेल लिया और शीशी फेंक दी।

अधिकारी गण अब समझे और एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। हरसरन हँसने लगा। हँसते-हँसते उसने कहा—"बुरा हो तुम्हारा, तुम क्या मुझे यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि उसने मेरी स्त्री को कुमार्गगामिनी बनाया? यह असम्भव है। पर यदि उसने ऐसा किया भी हो तो मैं उसे क्षमा करता हूँ। वह देश का प्यारा पुत्र है। मैंने सब कुछ उसे दिया तो स्त्री पुत्र भी सही। इसके बाद उसका सर्वांग काँपने लगा और वह वहीं धरती पर गिर पड़ा। अभी तक उसे होश बाकी था। एक अधिकारी ने आगे बढ़ कर कहा—"यह तुमने क्या किया?"

"प्रायश्चित्त! क्योंकि कल रात से मैं उसे विश्वासघाती समझने लगा था! जाओ, तुम्हारा बुरा हो।"

इसके कुछ क्षण बाद ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

—समाप्त—

विश्वकथा साहित्य में अप्रतिम

वैशाली की नगरवधू

अब से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व के भारतीय जीवन संग्राम का एक सम्पूर्ण जाग्रत चलचित्र इस उपन्यास में है। किस प्रकार एक विश्व-मोहिनी अनिन्द्य सुन्दरी बाला तत्कालीन विचित्र कानून के कारण वेश्या घोषित की गई, और किस प्रकार महान् राज्यों के अधिपतियों के मुकट उसके मृदुमनोहर चरणों में लुढ़के। किस प्रकार वह अद्भुत वेश्या अपने युग के सम्पूर्ण राजनैतिक और सामाजिक क्षोभ का मध्यबिन्दु बनी रह-कर एक सम्राट की माता बनी और अन्त में, उस लोकोत्तर सम्बन्ध को त्याग कैसे विश्ववन्द्य साध्वी बनी।

वैशाली गण तन्त्र के अद्भुत कानून, राजगृह के साथ महाराज्यों से संघर्ष, सुरा, सुन्दरी और मणि माणिक्य का अप्रतिम प्रदर्शन। सोमप्रभ की भावधारा, क्रीड़ा, हास्य, शौर्य, कौतुक और शृङ्गार का एक-एक बूँद रस, महाराज्यों को अकेली ही अपने मृत्युचुम्बन से ध्वस करने की सामर्थ्य रखने वाली विषकन्या कुण्डनी, विकट असुर शम्बर, राजगृह का महावैज्ञानिक, विगलित यौवन कौशलपति महाराज प्रसेनजित, प्रेमी पतङ्ग मगध सम्राट् बिम्बसार, तीन ग्रामों में एक ही समय में बीणा बजाने वाले कौशाम्बी-पति उदयन, अपने युग के एशिया भरमें अद्वितीय महाराजनीतिज्ञ मगधमहामात्य आर्य वर्षकार और यौगन्धरायण, लिच्छिवि सेनापति सिंह, ज्ञाति पुत्र महावीर और शाक्यपुत्र गौतम आदि इतिहास विश्रुत व्यक्तियों के अन्तरङ्ग जीवन, जिनमें आचार्य ने अपनी कल्पना तूलियों से रुच-रुचकर गहरा रंग भरा है, आप देखेंगे तो आपा खो देंगे।

उत्तरप्रदेश की सरकार ने उपन्यास को पुरष्कृत किया है।

दूसरा-संस्करण, लगभग हज़ार पृष्ठों के दो खण्डों में समाप्त, साथ में १०० पृष्ठों की भूमि। मूल्य बारह रुपए।

सोमनाथ

अतीत काल के प्रभास पट्टन पर आज भी गुजरात गर्व करता है। जहाँ समुद्र की गम्भीर जल राशि चट्टानों पर आज भी सिर धुनती है, जहाँ भारत भर के हिन्दुओं का महाप्राण, जाग्रत ज्योतिर्लिंग स्थापित था। उसका वह वैभव, जहाँ हीरे मोती कंकड़ पत्थरों की तरह बखेरे जाते थे। जहाँ रूप उजागरी सैकड़ों देव दासियों अपने यौवन को सोमनाथ महालय के प्राङ्गण में बखेरती ही रहती थीं। जिनके सहवास सान्निध्य के लिए देश देशान्तर के राजा और रंक महालय की सीढ़ियों पर महीनों पड़े योग और भोग के मिश्रण का स्वाद लेते थे।

कैसे ग़ज़नी का धूमकेतु उस पर भूचाल की भांति आ धमका, कैसे सम्पूर्ण गुजरात के प्राण वहाँ आ जुझे, कैसे वह गगनस्पर्शी सोमनाथ महालय देखते ही देखते भूमिसात होकर मलबे का ढेर हो गया, कैसे वहाँ की युग-युग की संचित सम्पदा ऊँटों और बर्बर सैनिकों के घोड़ों पर लदकर उडन्छू हो गई। इस उपन्यास में आचार्य की सामर्थ्यवती लेखनी की करामात से आप तेरहवीं शताब्दि में ध्वंस्त सोमनाथ महालय को अपने मानस नेत्रों से एक बार स्वर्ण रत्न और नर मुण्डों से परिपूर्ण, रूप यौवन से मत्त देवदासियों के नूपुर ध्वनि से गुंजित; सोलंकी भीमदेव की शमशेर से चमत्कृत और नवनीत कोमलाङ्गी देवदासी चौला की सुषमा से भरपूर, कौल, अघोरी, कापालिक, और तान्त्रिकों के जटिल भयानक प्रयोगों से व्याप्त देखेंगे। आबू पर सोमनाथ की स्पर्धा करने वाले जैन मन्दिर के बनाने वाले गुजरात के प्रबल प्रताप जैन मन्त्री विमलदेव का राजद्रोह देख स्तम्भित रह जावेंगे। मूल्य छै रुपए।